प्रकाशक
श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला
(श्री अ भा. साधुमार्गी जैन सघ द्वारा संचालित)
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर (राज.)-३३४००१



प्रथम संस्करण : ११०० (१९७५)
द्वितीय संस्करण : ११०० (१९८३)

—२)५० रुपये ।



मुद्रक :
जैन आर्ट प्रेस,
(श्री अ. भा साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
समताभवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राजस्थान)
पि०-३३४००१

प्रकाशकीय

साहित्य की विविध विधाओं में 'कहानी' को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त है। पाठक के समय को सरस बनाने के साथ ही कहानी उस पर स्थायी प्रभाव छोड़ती है। अत. वह एक साथ ही रजक एवं प्रेरणा-स्रोत भी है।

कहानी-साहित्य में जैन-कथाओ का विशेष महत्व है। प्राचीनकाल से दृष्टात-स्वरूप अथवा स्वतन्त्र रूप से विविध कथाए लिखी जाती रही हैं और उनसे नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के प्रचार-प्रसार मे अच्छा योग प्राप्त हुआ है।

'सौन्दर्य-दर्शन' मे श्री शान्तिचन्द्र जी मेहता की ११ कहानियो का सग्रह प्रकाशित किया गया है। इन कहानियों की कथावस्तु परम्परागत है परन्तु लेखक ने इन्हें नवीन शिल्प से मण्डित करके सोने में सुगन्ध का काम कर दिया है।

मन्त्री

श्री अ. भा. सा. जैन संघ

बीकानेर (राज०)

अनुक्रमणिका



धधकते अंगारे

'क्या निर्दोष भिक्षा मिल सकेगी, माता ?'

देवकी रानी के सामने दो युवा मुनि खड़े थे। इतने स्वरूपवान, इतने तेजस्वी और इतने मनोरम कि उन्हें देखते ही अपार स्नेह उमड़ आये। तिस पर उन्होंने जो 'माता' कहा तो देवकी को ऐसे लगा कि सचमुच ही वे उसके ही पुत्र हों। स्नेह-विभोर हो उसने उन्हें वन्दन किया और हर्षित हो वह उन्हें पाकशाला के भीतर ले गई।

'मुनिवर, आपकी आकृतियों पर कितना रमणीय भाव है कि मैं आपके दर्शन कर स्नेहार्द्र हो गई हूं'—देवकी ने अभ्यर्थना की।

'यह तुम्हारा संयम के प्रति स्नेह है, माता।'

पाकशाला में मोदक बने हुए थे व निर्दोष थे, जिन्हें देवकी ने मुनियों की आवश्यकतानुसार उनके पात्र में बहराए। मुनिद्वय आहार लेकर वापस लौट गये।

थोड़ी देर बाद फिर वैसे ही स्वरूपवान दो युवा मुनि आये और उन्होंने भी निर्दोष भिक्षा की याचना की। देवकी को कुछ

शंका हुई, वह यही समझी कि पहले वाले मुनिद्वय ही स्वाद के लोभ से मोदक ग्रहण करने फिर आ गये हैं। उसे मोदक का नहीं; मुनिधर्म का विचार आया, फिर भी वह बोली नहीं। उसने उन्हें मोदक बहरा दिये।

फिर वैसे ही स्वरूपवान दो युवा मुनि और आये तथा उन्होंने भी निर्दोष भिक्षा की याचना की। अब देवकी रानी को अपने मन में यह निश्चय-सा हो गया कि थोड़ी-थोड़ी देर बाद पहली बार आने वाले मुनिद्वय ही तीसरी बार फिर मोदक लेने उसके यहां आ पहुंचे हैं।

देवकी स्वयं नियमधारिणी थी व व्रत, नियम की परीक्षा के प्रति कठोर भी थी। साधु स्वादु बन जाये—यह उसे सहा नहीं हुआ। साधु जीने के लिये खाता है, उसे खाने के लिये नहीं जीना चाहिये, फिर ऐसे तेजस्वी मुनियों से ऐसी भूल क्यों हो रही है? उस भूल को सुधारना देवकी ने अपना कर्त्तव्य समझा।

उसने अति विनम्रतापूर्वक तीसरी बार आये मुनिद्वय से पूछा—

'मुनिवर, क्या पूरी द्वारिका नगरी में भिक्षा हेतु मेरा ही गृह ठीक लगा आपको?'

'यह तुमने क्यों पूछा, माता? हम तुम्हें रानी समझ कर स्वादु भोजन लेने तुम्हारे यहां नहीं आये हैं। सभी छोटे-बड़े घरों में हम घूमते हैं बिना भेदभाव के। आज चूंकि नगरी के इस भाग में भिक्षार्थ हम आये तो बीच में हमने इस गृह को छोड़ देना उचित नहीं समझा और इसी कारण यहां भी चले आये हैं। आहार के स्वाद के प्रति हम कोई ममता नहीं रखते हैं, माता!' मुनियों का उत्तर उससे भी अधिक विनम्र था।

'तो क्या मेरी आंखें धोखा खा रही हैं जो मैं आप दोनों

मुनियों को थोड़ी-थोड़ी देर में इसी गृह मे आते हुए देख रही हूँ ? क्या आप दोनो अभी-अभी तीसरी बार मेरे गृह मे नहीं पधारे हैं ?'

'निश्चय ही तुम्हारी आंखों ने धोखा खाया है, माता हम दोनों तो पहली ही बार आये हैं ।'

मुनिद्वय का यह उत्तर सुनकर देवकी रानी भौचक्की-सी रह गई । यह कैसा धोखा है ? क्या ये मुनि मोदक के लिये असत्य-भाषण भी कर सकते हैं ? किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि भगवान नेमिनाथ के सान्निध्य मे रहने वाले मुनि ऐसा कर सकें ।

देवकी को विचारमग्न देख उन मुनिद्वय ने पूछा—

'क्या माता, हमारे जैसी ही आकृति वाले अन्य मुनि भी पहले यहां आये थे ?'

'तो क्या ठीक आप जैसी आकृति वाले अन्य मुनि भी हैं ?'

'हां माता, हम एक-सी आकृति वाले छह भाई थे और छहों भाइयो ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण कर ली । दो-दो मुनियों के हमारे तीन सिंघाड़े (समूह) भिक्षा लाने हेतु बनाये गये थे । आपके कहने से ऐसा पता चलता है कि सयोग से अलग-अलग तीनों सिंघाड़े आपके यहां भिक्षार्थ चले आये हैं ।'

'मुनिवर, तब ठीक ऐसा ही हुआ है । मुझ पापिनी ने अपने मन मे आपके साधु-आचार के प्रति शका पैदा की—उसके लिये आप मुझे क्षमा करें ।'

'क्षमा का इसमे कोई प्रश्न नहीं । यह तो तुम्हारी जागरूकता है और ऐसी जागरूकता सद्गृहस्थों मे होती है, तब साधु का जीवन अधिक पवित्र बना रहता है ।'

'यौवन और रूप के मोह को छोडकर आपने दीक्षा ग्रहण की—आप धन्य हैं और आपकी माता धन्य है जिन्होंने अपने छह-छह एक-से स्वरूपवान् लाडलो का मोह छोड दिया।'

'जीवन को ऊपर नहीं उठाया तो इस मानव-जीवन का अर्थ ही क्या है, माता ?'—मुनियों ने सारभूत तत्व का उच्चारण किया।

मुनिद्वय का तीसरा सिंघाडा आहार लेकर चला गया किन्तु देवकी रानी का मातृहृदय स्नेह और विस्मय में डूब गया। ऐसे भव्य छह-छह सुपुत्र किसके हैं—किस भाग्यवती मां ने इन्हे अपनी गोदी मे खिलाया और कैसे उन्हे भगवान की झोली मे डाल दिया—यह जानने के लिये उसका मन उतावला हो गया और यह जानने के लिये भी कि उन्हे देखकर उसका मातृहृदय क्यो सौ-सौ उछाले ले रहा है ?

वह भगवान नेमिनाथ के पास पहुच गई।

× × ×

'देवकी, तुम कुछ जानकारी पाने की जिज्ञासा लेकर उतावलेपन मे मेरे पास आई हो ?'

मन-मन की बात जानने वाले भगवान ने देवकी को पहले ही पूछ लिया।

देवकी ने श्रद्धाभरे कठ से कहा—

'हां प्रभु, आपसे कहा क्या छिपा रहता है ?'

'तो सुनो, ये छह मुनि तुम्हारे ही पुत्र है। ये कहां और

किस ममतामयी मां की गोद में बड़े हुए, यह वृत्त रहस्यमय है। भद्दिलपुर नगर में नाग गाथापति की धर्मपत्नी सुलसा ऐसी वन्ध्या थी, जिसके मरी हुई सन्तानें होती थीं किन्तु उसने हरिणगमेषी देव की आराधना कर सन्तान की कामना की। जिस पर देव ने अपनी माया से तुम्हारे पुत्रों को वहां पहुंचा दिया तथा उसके मरे हुए पुत्रों को तुम्हारे यहां, जो कंस के हाथों में पड़े। इस तरह तुम अपने ही पुत्रों को नहीं जान सकी थी, देवकी !'

भगवान से यह तथ्य सुनते ही देवकी हर्ष-विषाद के दोहरे आवेग में झूल उठी। 'ये मेरे ही पुत्र हैं'—एक ओर ऐसे हर्ष ने उसकी स्नेहसिक्तता को विगलित कर दिया, तो दूसरी ओर विषाद के तेज अन्धड़ ने उसके मन को ऐसा क्षत-विक्षत बना दिया कि वह दुःख में झूरती हुई बावली-सी बन गई।

वह अपने आवेग को न रोक सकी, सहसा उसके मुंह से निकल पड़ा, 'हा भगवन् ! मैं कैसी हतभागिनी हूं, जिसने सात पुत्रों को जन्म दिया किन्तु किसी की बाल-लीला न देख सकी। छह पुत्रों का तो ज्ञान ही आज हुआ और सातवें पुत्र कृष्ण को गोकुल में यशोदा ने बड़ा किया। क्या यह मेरा भीषण दुर्भाग्य नहीं है कि मैं मां बनकर भी मां न हो सकी ?'

'इसे दुर्भाग्य क्यों कहती हो देवकी, यह तो तुम्हारा सौभाग्य है कि तुम्हारे पुत्र साधु बनकर स्व-पर के कल्याण में लगे हुए हैं। यह तुम्हारी ममता बोल रही है, सन्मति नहीं।' भगवान ने देवकी को सच्ची सांत्वना दी।

'आपके वचन सत्य हैं भगवन् किन्तु मां की ममता भी अकारण नहीं होती और जब मां को ममता न मिले तो उसकी व्यथा कितनी विषम होती है ?' देवकी के नेत्रों से आंसुओं की

धारा बह रही थी।

कर्म-सिद्धान्त का रहस्य समझाकर प्रभु ने उसे सांत्वना दी और देवकी रानी 'जय हो, भगवन् !' कहती हुई भूमती-पुलकती अपने महल में लौट आई।

× × ×

कृष्ण महाराज ने अपने छोटे भाई के जन्म पर ऐसा उत्सव मनाया जैसा राज्य मे पहले कभी नहीं मनाया गया। देवकी रानी तो इतनी हर्ष-विभोर हो रही थी कि जैसे उसने सब सब कुछ पा लिया हो। वह अब घुटनो से चलने, तुतला-तुतला कर बोलने आदि की असंख्य बाल-लीलाओं का आनन्द लेगी तो उसका मातृत्व सफल हो जायेगा।

नवजात शिशु का नाम गजसुकमाल (गजसुकुमार) रखा गया। कितने लाड़-प्यार से गजसुकमाल का लालन-पालन और शिक्षा-संस्कार हुआ होगा—इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। वसुदेव के प्यार, देवकी के दुलार और कृष्ण की मंगलकामनाओं के झूले मे गजसुकमाल बड़े हुए एक शीलवान और तेजस्वी युवा के रूप मे। माता-पिता के ममत्व और भाई के स्नेह ने गजसुकमाल को गृहस्थी के बंधनों में बांध लेना चाहा कि वे अपने छहों भाइयों का अनुसरण न कर सकें।

'माता जी मैंने सोमिल ब्राह्मण की लड़की को स्वयं देखा है। सोमिल दीन-हीन ब्राह्मण अवश्य है किन्तु उसकी लड़की अति लाक्षणिक है एवं अपने गजसुकमाल के लिये योग्य है। आप आज्ञा दें तो वाग्दान कर दिया जाये'—कृष्ण ने देवकी रानी से पूछा।

'बेटा दीन-हीन, सम्पत्तिशाली होने का मेरे मन मे कोई

विचार नहीं है । मेरी पुत्रवधू सुशील, सुयोग्य और मेरे गजसुकमाल के मन भा जाये—ऐसी होनी चाहिये ।'

'ऐसी ही है वह मां !'

'तो तुम सम्बन्ध पक्का कर लो, पुत्र !' और आज्ञा देकर मां देवकी प्रसन्न हो उठी कि अब किसी भी तरह उनका गजसुकमाल उनकी गोद छोड़ कर संयम की गोद में न जा सकेगा ।

× × ×

'मैंने अभी-अभी सुना है पूज्य भाई साहब कि आप सदल-बल भगवान नेमिनाथ के दर्शन करने पधार रहे हैं । क्या आप अपने छोटे भाई को साथ नहीं ले चलेंगे ?'—गजसुकमाल ने कृष्ण महाराज से विनय सहित निवेदन किया ।

'क्यों नहीं गजसुकमाल, क्यों नहीं ? तुम तो मेरे परम आत्मीय हो । यदि तुम्हारी इच्छा है तो अवश्य चलो'—कृष्ण का हृदय आशंकित हुआ किन्तु इनकार भी कैसे किया जा सकता था । भगवान के दर्शन जैसे पवित्र काम के लिये इनकार करना तो और अधिक शंका पैदा करना था । कृष्ण ने गजसुकमाल को अपने ही हाथी पर अपने साथ बिठाया और अपने साथ भगवान के समव-सरण में ले गये ।

भगवान की धर्मदेशना चल रही थी –

'हे भव्य जीवो, जीवन क्षणभंगुर है और इसी जीवन में महान् काम का उद्घाटन करना है । आयुष्य तो अल्प है किन्तु अनन्त आत्मिक-शक्ति को जो मृत्यु से पहले प्रकट कर ले, वह धन्य हो जाता है. ....

'अतः समय-मात्र का भी प्रमाद मत करो। बीता हुआ एक क्षण भी फिर लौट कर वापिस नहीं आयेगा। उसे व्यर्थ गंवा दिया तो वह गया और अगर उसका सदुपयोग कर लिया तो वह जीवन का आदर्श मोती बन जायेगा....

'जीवन मे एक-एक क्षण का सदुपयोग करो, जागरूक आत्माओ! अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह के महाव्रत धारण कर अपने से सलग्न पापमैल को धो डालो. विचार और आचार को निर्मल बना लो, फिर देखो कैसा अखड, अमर और अनन्त आनन्द तुम्हें प्राप्त होता है?'

शा-शत आत्माए इस उद्बोधन को सुन रही थीं किन्तु सब की विचार-श्रेणिया एक नही थीं। आत्म-जागरण की विविध अन्तर्धाराए सब ओर बह रही थी पर राजकुमार गजसुकमाल की अन्तर्धारा इतने प्रबल वेग से प्रवाहित हो उठी कि उसने प्यार और दुलार का बन्धन, सुख और ऐश्वर्य का व्यामोह तथा यौवन की भोग-लिप्सा को एक ही बार में टूक-टूक कर दिया। बाहर धर्मदेशना चलती रही और अन्तर्मन मे गजसुकमाल के त्याग का रग गहरा होता चला गया।

ससार जितना भोग की धारा मे सुख ढूढता है, उतना ही वह भटकता जाता है। सुख मृग-तृष्णा के रूप में बना रहता है, मिलता नहीं। किन्तु जो अपने जीवन को त्याग की धारा मे बहा देता है, उससे जब सुखानुभव शुरु होता है तो वह त्याग के घनत्व के साथ प्रगाढ बनता ही जाता है। जब गजसुकमाल ने सुख अभिलाषा से अपने आपको त्याग की धारा मे डाल दिया तो भला फिर कौनसी शक्ति उन्हें त्यागी बनने से रोक सकती थी?

'भगवन्, मेरे मन का हर्ष न जाने समा क्यों नहीं रहा है?

मुझे ऐसा लग रहा है कि मैं अपनी आत्मा का परमावर्त पूरा करने में अब एक पल का भी विलम्ब क्यों करूं ? मुझे मार्ग दिखाइये प्रभु कि मैं जीवन का समग्र प्राप्य तुरन्त प्राप्त कर लूं, एक साथ प्राप्त कर लूं, आज ही प्राप्त कर लूं........'

दीक्षित होने के तुरन्त बाद मुनि गजसुकमाल ने भगवान नेमिनाथ से उच्चाभिलाषापूर्वक नम्र निवेदन किया।

'मैं तुम्हारी उत्कृष्ट भावना को समझता हूं; गजसुकमाल तुम ऐसी ही भवि आत्मा हो........

'मुझे ऐसी कठोर साधना का मार्ग दिखाइये भगवान कि मेरी अभिलाषा और आपकी वाणी दोनों एक साथ फलवती बन जाये। मेरी इस उत्कंठा को सफल करें, सर्वज्ञ देव ?' करबद्ध होकर मुनि गजसुकमाल आज्ञार्थ खड़े रहे।

'गज मुनि, जो आज्ञा मैंने किसी को नहीं दी, वह तुम्हें दे रहा हूं।'

'असीम कृपा है भगवन्, आपकी ?'

'यह मेरी कृपा नहीं, तुम्हारी विचारसरणी की परमोच्चता है।'

'आज्ञा दें, प्रभु !'

'नवदीक्षित को मैंने बारहवीं प्रतिमा (पडिमा-कष्ट सहन की उत्कृष्ट अवस्था) धारण कराने का विधान नहीं किया है, किन्तु मैं तुम्हारी उत्कट भावना को देखकर तुम्हें इस प्रतिमा को धारण करने की आज्ञा दे रहा हूं, गजसुकमाल ! तुम आज रात द्वारिका नगरी की श्मशान-भूमि में प्रतिमा धारण कर ध्या[illegible] हो जावो

तुम्हें तुम्हारा चरम और परम प्राप्त हो जायेगा।'

प्रभु की आज्ञा पा अति हर्षित मन से मुनि गजसुकमाल संध्याकाल में श्मशान-भूमि की ओर चल पड़े।

× × ×

अन्धकार की हल्की-हल्की चादर मे श्मशान का दृश्य भयानक बनता जा रहा था। इधर-उधर चिताएं प्रज्वलित हो रही थीं तो चारों ओर फैले नरमुंड और अस्थिपंजर एवं झपटते हुए गिद्ध दृश्य की भयंकरता को बढ़ा रहे थे। ऐसे ही वीभत्स एवं भयावह दृश्य के बीच मुनि गजसुकमाल ने ध्यानस्थ हो प्रतिमा धारण कर ली।

उस समय पास की ही एक प्रज्वलित चिता की रोशनी सीधी मुनि के मुख पर गिर रही थी और उससे मुनि की तेजोमय आकृति और अधिक भव्य लगने लगी। योग ऐसा बना कि कहीं कार्यवश जाकर सोमिल ब्राह्मण वापस नगरी को श्मशान के पास वाले रास्ते से लौट रहा था तो उसकी दृष्टि अचानक मुनि पर जा गिरी। देखते ही वह चौंका कि अरे, आज सुबह ही तो कृष्ण ने उसकी पुत्री का गजसुकमाल के लिये वाग्दान लिया है और शाम को ही उनका भाई तथा उसका होने वाला जमाई साधु कैसे बन गया है? अब उसकी पुत्री का क्या होगा? यह तो घोर विश्वासघात है। सोमिल क्रोध से विक्षिप्त-सा हो गया।

सामने आकर उसने ललकारा—

'ओ गजसुकमाल, मैं अपनी पुत्री के विवाह की प्रतीक्षा कर रहा था और तुम कायर और भगोड़े की तरह साधु बनकर ढोंग

करके यहां छिपे हुए हो—लज्जा की बात है। यदि ऐसा ही करना था तो मेरे साथ छल क्यों किया, मेरी पुत्री के साथ संबंध ही निश्चित क्यों किया ? बोलो, चुप क्यों हो ?'

किन्तु मुनि बनने के बाद गजसुकमाल क्या बोलते ? वे तो अपने अन्तर्तम के ध्यान में डूबे ही रहे—बाहर से उनका अब सम्बन्ध ही क्या रह गया था ?

'मैं पूछ रहा हूं और तुम बोलते भी नहीं। तुम समझते हो कि मैं तुम्हें क्षमा कर दूंगा। तुमने मेरी पुत्री का भविष्य बिगाड़ दिया है तो मैं तुमसे उसका बदला लेकर रहूंगा। अब भी समय है कि इस ढोंग को छोड़कर अपने सम्बन्ध को निबाहो, वरना मुझसे बुरा दूसरा न होगा।'—सोमिल ब्राह्मण ने चेतावनी दी, किन्तु मुनि तो अपनी आत्मा की चेतावनी में लगे हुए थे, जो भावना की श्रेष्ठ श्रेणियों में ऊपर और ऊपर उठती ही जा रही थी।

'तो तुम मेरी नहीं सुनोगे, गजसुकमाल ? मत सुनो, मेरे हाथ से बचकर अब तुम कहां जा सकोगे ? चाहे कृष्ण मुझे फांसी चढ़ा दें, किन्तु मैं तुम्हारे जीवन को जला-जला कर नष्ट करूंगा। याद रहेगा तुम्हें अगले जन्म तक कि मैंने भी बदला लिया था—'

मुनि की मुक्त होने वाली आत्मा न तो अगला जन्म लेने वाली थी और न ही सोमिल के बदले को याद रखने वाली थी, किन्तु सोमिल की पापात्मा उसी समय क्रूर प्रतिशोध के लिये तैयार हो गई।

जल से गीली हुई चिकनी मिट्टी लाकर पहले सोमिल ने ध्यानस्थ मुनि के सिर पर चारों ओर ऊंची-ऊंची पाल बांधी और

कुछ देर तक उसे सूखने दी। फिर वह पास की चिता से एक मिट्टी के पात्र में लाल-लाल अंगारे भर लाया और उस दुष्ट ने वे धधकते अंगारे मुनि के मस्तक पर उडेल दिये।

वे धधकते अंगारे और सुकुमार गज मुनि के मस्तक पर! कल्पनातीत वेदना का समय था। खोपडी सीझने लगी, किन्तु मुनि टस-से-मस नहीं हुए। यही उनका परीक्षा-काल था, जिसकी सफलता पर उन्हें अपना चरम और परम प्राप्त करना था। न उन्हें अपने शरीर पर तनिक भी राग हुआ और न लेशमात्र भी द्वेष का भाव वे सोमिल ब्राह्मण पर लाये। मरणान्तक पीड़ा के बावजूद उन्होंने अपने सिर को किंचिन्मात्र भी नहीं हिलाया, कारण कि कहीं एकाध अंगारा भी नीचे गिर पड़ा तो उससे किसी भी निरपराध प्राणी की व्यर्थ ही हत्या हो जायेगी अपने प्राणों की रक्षा मे अन्य प्राणी का हनन हो जाये—यह न तो वांछनीय है, न करणीय।

मुनि परम स्थिर एवं शान्त भाव से उस पीड़ा को सहते रहे—जैसे यह शरीर उनका है ही नहीं। मन-ही-मन सोमिल को धन्यवाद देते रहे कि उसने उनके परम कल्याण को एकदम निकट ला दिया।

उन धधकते अंगारों ने एक साथ ही दो कार्य सिद्ध कर दिये। नश्वर शरीर को एक ओर जलाकर भस्म कर दिया तो दूसरी ओर अनश्वर आत्मा को मुक्ति के अनन्त आनन्द में सदा-सदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया।

× × ×

'प्रभु हमारा गजसुकमाल बहुत ही कोमल था, राज-सुखों में पला था, फिर भी हठ करके उसने दीक्षा ले ली। आप कृपा करके बताइये कि उसके साधु जीवन की पहली रात कैसे बीती है? इसी चिन्ता से तो प्रभातकाल होते न होते हम दौड़े आये हैं। नवदीक्षित मुनि के हमें दर्शन भी कराइये, भगवन्'—वसुदेव, देवकी और कृष्ण तीनों प्रतीक्षातुर हाथ बांधे खड़े थे।

भगवान ने भावोद्रेक में कहा—'कहाँ हैं मुनि गजसुकमाल, जिनके मैं तुम्हे दर्शन कराऊं? वह तुमसे क्या छूटा, मुझसे भी छूट गया और पहली ही रात्रि मे देह और ससार से भी छूट गया है।' यह सुनकर सभी मौन हो गये थे।

नर्तकी

छुम छन् न् न् न्, छुम छन् न् न् न्........

कोशा नर्तकी आज पूर्ण भावुकता एवं भक्तियों की सजगता के साथ पुष्प-नृत्य कर रही थी—अपने प्रशंसकों के विशाल समारोह में नहीं, केवल अपने प्रेमी स्थूलिभद्र के सामने अपने ही भवन के एकान्त प्रकोष्ठ में। किन्तु स्थूलिभद्र अब वे स्थूलिभद्र नहीं थे जो कोशा के कटाक्षों से घायल हो जायें। वे तो उस दामन को तोड़कर मुनि बन चुके थे और अपने संयम व्रत की कठोर कसौटी के लिये ही गुरु-आज्ञा से अपनी ही पूर्व प्रेमिका कोशा नर्तकी के भवन में चातुर्मास* कर ठहरे हुए थे।

'प्रिय, तुम्हें यह पुष्प नृत्य तो बहुत ही पसन्द था न? फिर आज तुम मेरे में मग्न होने की अपेक्षा अपने ही में मग्न कैसे हो?' कोशा ने जैसे चकित नयनों से ही यह कहा हो परन्तु उन नयनों को देखने वाले नयन तो मुंदे हुए थे।

मुनि स्थूलिभद्र ध्यानस्थ थे, किन्तु कोशा कहती ही रही

---

*चातुर्मास आषाढ़ शुक्ला १४ से कार्तिकी पूर्णिमा तक के चार माह को कहते हैं, जब जैन मुनि विहार नहीं करते एक ही स्थान पर ठहरते हैं।

अपनी प्रेमव्यथा और बढ़कर चीखती हुई-सी बोली—

'क्या तुम अपनी कोशा से एक शब्द भी नहीं बोलना चाहते ? देखो तो—तुम्हारी बेरुखी ने मुझे कैसा बेहाल बना दिया है ?'

तब मुनि ने नेत्र खोले और शान्त स्वर में बोले—

'कोशा,' इस छिछले मोह के घेरे को काट कर सारे जगत् से प्रेम करना सीखो और फिर देखो—जीवन में कितना आनन्द आता है, जब वह नैतिकता का जीवन बन जाता है........'

और स्थूलिभद्र मुनि के उपदेश एवं समागम से कोशा नर्तकी, नर्तकी न रही, एक साधिका (श्राविका) बन गई ।

× × ×

'गुरुदेव, आपकी आज्ञा का मैंने सर्वांशतः पालन किया है और मेरा नम्र विचार है कि उस अनुकूल आपदा में भी मैं स्थिर रह सका हूं'—स्थूलिभद्र ने चातुर्मास समाप्ति पर गुरु के सन्निकट पहुंच करबद्ध होकर निवेदन किया ।

गुरु अपने स्थूलिभद्र को जानते थे, वे गद्‌गद् होकर बोले—

'शिष्य तेरी साधना पर मुझे गर्व है ।'

गुरु के ऐसा कहते ही अन्य शिष्य विशालभद्र ईर्ष्या के वश चीख उठा—

'एक अबला नर्तकी के यहां चातुर्मास कर स्थूलिभद्र तो आपके गर्व का कारण हो गया और बबर सिंह व काले नागों की रौद्रता को भी शान्त कर देने वाला मैं कुछ भी नहीं ।'

गुरु ने शान्ति तथा दृढता से कहा—

'हां, कुछ भी नहीं । प्रतिकूल से अनुकूल आपदा पर विजय पाना अधिक कठिन होता है ।'

'आगामी चातुर्मास मैं भी किसी नर्तकी के भवन मे करके दिखला दूंगा'—कहता हुआ मुनि विशालभद्र वहां से सरोष चला गया ।

× × ×

'नर्तकी, हम तुम्हारे भवन मे चातुर्मास करने की आज्ञा चाहते हैं ।'

संयोग से मुनि विशालभद्र आगामी चातुर्मास के प्रारम्भ पर कोशा के ही भवन पर चले गये । कोशा को कुछ अनुमान हुआ, कुछ नहीं—किन्तु मुनि के मुख पर खिंची अभिमान की रेखाओं ने कोशा को भी कठोर बना दिया ।

'आपका चातुर्मास और मेरे भवन में ? मेरा भवन एक [illegible] का भवन है, वासना का गृह है, मुनि !'—कोशा ने कुछ उत्तेजित होकर कहा ।

'यही तो कारण है कि मैंने यहां चातुर्मास करने का निश्चय किया है, ताकि मेरे गुरु को ज्ञात हो सके कि मुनि विशालभद्र वासना के गृह में भी वासना से कैसे विरक्त रहा ?'

'यह सत्य होगा, किन्तु वारांगना की वासना के प्रबल प्रवाह के बीच आप स्थिर तो रह सकेंगे, मुनि ?'

'तुम मेरा अपमान कर रही हो, नर्तकी—क्योंकि मेरी शक्ति

से परिचित नहीं हो । दहाड़ते हुए बर्बर सिंह और फुफकारते हुए काले नाग जिसकी ध्यान–मुद्रा के आगे शान्त हो जाते हैं, फिर तुम तो एक दुबली–पतली अबला हो । तुमसे भी अस्थिर हो जाऊंगा मैं ।' और मुनि ठठाकर हंस पड़े ।

'आपको मेरा शारीरिक ढांचा भयभीत नहीं कर सकता किन्तु वासना की ज्वाला मे शान्त रहना सरल नहीं है मुनि ।'

'क्या मैं त्यागी नही, नर्तकी ? मैंने वासना को भस्मीभूत कर दिया है । वासना की पुतली को प्रतिक्षण वासना का ही ध्यान रहता है और वह दूसरों मे भी अपनी ही वृत्ति के अनुरूप कल्पना किया करती है ।'

'तो आइये, मुनि.....'

जो स्वयं नैतिकता की मंजिल की ओर अपने कदम बढ़ा चुकी थी उस कोशा का मुनि विशाखभद्र की इतनी कठोर जांच करना स्वाभाविक ही था ।

× × ×

अर्धरात्रि में वीणा की मधुर झंकार पर कोशा गा रही थी एक प्रेमगीत अपने लिये नही, परीक्षा के लिये । स्तब्ध वातावरण मे वह गीत गुंजरित होकर माधुर्य रस बरसा रहा था जैसे रुपहले चादर मे रूप की तरी पर बैठ कर कोई रूप की मदिरा रूप के प्यालों पर उड़ेल रही हो—

देख हिलोरें भूल, प्रियतम !
दो क्षण का यह रसमय जीवन,

महा मृत्यु का फिर आलिंगन,
मस्ती को मत भूल, प्रियतम—
कोमल देह, प्रेममय चितवन,
शीत चांदनी, मुकुलित मधुवन
सुरभित फूले फूल, प्रियतम—

सारे वायुमण्डल में एक अद्भुत आकर्षण व्याप्त हो रहा था। कोशा के शयनकक्ष से निकली ध्वनि सब ओर लहरा रही थी।

अपने कक्ष में मुनि विशाखभद्र ने इस गीत को सुना और तुरन्त त्याग के अपने घमण्ड से वे कोधित हो उठे। तब वहाँ से उठकर उसी समय कोशा के शयनगृह के बाहर आकर गुणपूर्वक वे व्याख्यान देने लगे—

'नर्तकी, क्या एक मास का हमारा पवित्र सम्पर्क तुझ पर कुछ भी असर नहीं डाल सका ? याद रख—वासना मानव-जीवन के पतन का वह गहरा गड्ढा है जिसमें गिरकर मनुष्य अपने आपको हमेशा के लिए खो बैठता है . ..

'सौन्दर्य के अभिमान में डूबी हुई नर्तकी, आज का रंगमय जीवन कल नीरस हो जायेगा, आज की मस्ती कल को वेदना में फूट पड़ेगी, आज की कोमल देह कल गलित और शुष्क हो जायगी और आज का यह मदमाता यौवन कल जर्जर वृद्धत्व के रूप में बदल जायेगा ....

'नर्तकी, जीवन के इन अमूल्य क्षणों को प्रेम-गीतों में नष्ट न कर, आत्मिक-साधना में व्यतीत कर। त्याग ही जीवन का उत्थान मार्ग है।'

कोशा ने तत्क्षण वीणा को अलग हटाकर बड़ी ही नम्रता और विनम्रता से क्षमा के स्वर में कहा—

'मैंने भूल की है, क्षमा करें मुनि आपके संयम में विघ्न हुआ, मुझे भी चेतना मिली। भविष्य में ऐसा कभी नहीं होगा, देव!'

× × ×

परन्तु अपने कक्ष में आने पर मुनि को पुनः निद्रा नहीं आ सकी। तब अपने ही रोष की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई।

'मैं कितना निष्ठुर हूं? मैंने यह क्या किया? कोशा के आनन्द का विघ्न मैं क्यों बना? कितनी सुन्दर लगती थी जब वह गा रही थी! एक निराला ही मधुर रसस्रोत-सा प्रवाहित हो रहा था। वीणा के तार दिल को कंपा देने वाले थे। आनन्द का अनिर्वचनीय रस टपक रहा था ......'

'सचमुच ही मैंने निर्दयता की है कोशा के साथ....मुझे क्या अधिकार था उसके ही भवन में उसकी प्रवृत्ति पर रोक लगाने का? मैं अभी ही जाता हूँ और उससे इस अभद्रता के लिए क्षमा मांगता हूं। वह अवश्य ही मुझे क्षमा कर देगी। जब मैं क्रोध की आग में जला जा रहा था तब भी कितनी सरलता खेल रही थी उसके मुख पर! . '

मुनि विशालभद्र उठे और कोशा के शयन-कक्ष की ओर बढ़ चले। द्वार पर जाकर रुक गये। निश्चिन्त हो कोशा सो गई थी। उसके मुख पर खिड़की से आता चन्द्रमा का धवल प्रकाश गिर रहा था। उस शुभ्र ज्योत्स्ना में उसका रूप और अधिक खिल रहा था। यकायक देखने वाला फर्क मालूम नहीं कर सकता था कि प्रकाश की किरणें चन्द्रमा से आ रही हैं या कोशा के मुख-मण्डल से ही चारों ओर बिखर रही हैं!

मुनि द्वार पर ही यह सब देखकर ठिठक गये—देखते रहे। सोचा, जगा दूं, किन्तु उस मोहक दृश्य को देखते रहने की प्यास मे वे ऐसा न कर सके ।

अचानक कोशा ने करवट बदली । मुनि चमक गये और शीघ्र ही दबे पांव अपने कक्ष मे वापस आ गये ।

विशाखभद्र का दिल उनके वश के बाहर होता जा रहा था । चिन्तन ने मोड लिया, यौवन और संसार की वास्तविक सुन्दरता को छोड आत्मा के काल्पनिक सौन्दर्य की आशा में त्याग की साधना के पीछे भटकना पागलपन है । आज के प्राप्त सुख की उपेक्षा करके कल के अप्राप्त सुख की खोज में घूमना मनुष्य की मूर्खता है । यौवन रसमय जीवन मांगे और उसका उपभोग करने के लिये कोमल देह, चंचल चितवन और उनके सहायक शीतल चांदनी, खिले हुए मदमाते फूल और इस समय बढ़कर प्रेम का मधुरतम आग्रह—प्रियतम का आह्वान ! ..

अनुकूलता के अभाव में मुनि विशाखभद्र की मन में दबी हुई वासना की ज्वाला आज अनुकूलता से भभक उठी थी । मुनि अति व्याकुल होने लगे ।

× × ×

लिये। दिन बीता, संध्या आई और आखिर मुनि की इच्छित रात्रि ने भी अपना आधिपत्य जमाया। तब दिन भर का श्रान्त संसार निद्रा की गोद में चला गया—कोशा भी श्रान्त जगत की ही सदस्य थी, वह भी सो गई। जगत् के प्राकृतिक क्रम से बाहर निकले हुए थे मुनि विशाखभद्र—जो जाग रहे थे। अतृप्ति की प्यास उन्हें झकझोर रही थी। अतृप्त के मन को शान्ति कहां ? यौवन, रूप, चांदनी और मस्तीभरा समागम...मुनि बुरी तरह से बहक गये। वे बेचैन होकर रुपहली रात के मध्य का इन्तजार करने लगे।

अर्धरात्रि के समय मुनि उठे और कोशा के शयनगृह में प्रविष्ट हो गये। विगत रात्रि वाला ही दृश्य था—चांदनी में चमकता हुआ चांदी-सा मुखड़ा। मुनि उसे अपलक देखते रहे—आखिर अपने आपको वे संभाल न सके। उसके पास पलंग पर बैठकर उन्होंने नर्तकी का हाथ अपने हाथ मे ले लिया। हाथ का छूना था कि कोशा चौंक पड़ी।

'कोशा, प्रिय कोशा!' मुनि विशाखभद्र हाथ को सहलाते हुए हकलाते-से बोले।

'कौन ? आप मुनि ... ?'

'सुन्दरी, अब मुनि मत कहो मुझे। अब मैं तुम्हारा प्रेमी बनकर उपस्थित हूं। तुमसे प्रेम की भीख चाहता हूं, नर्तकी!'

कोशा आश्चर्य से कुछ हक्की-बक्की रह गई थी। फिर भी सधत स्वर में उसने कहा—

'यह मैं क्या देख रही हूं, मुनि ? कल की रात और आज की रात में इतना [illegible] परिवर्तन ? क्या तुम्हारे त्याग की यही

गहराई है ? मैंने तो तुमसे बहुत कुछ सीखने की आशा की थी, विशाखभद्र !'

'त्याग ! हूं...हू मैं भ्रम में था कोशा ! संसार का जीता-जागता सुख छोड़कर मैं पागलपन में भटक रहा था—न जाने कैसे काल्पनिक आनन्द के लिये ? तुम्हीं ने तो मुझे सिखाया है कोशा कि यह यौवन और सौन्दर्य और दोनों की प्रतिमा तुम—कितने सुन्दर हैं ये सब ! मैंने जीवन के इस क्रम को बदल डालने का निश्चय कर लिया है, प्रिये !'

'मुनि, दहाड़ते हुए सिंहों और फुफकारते हुए नागों के सामने अडिग रहने वाले मुनि, क्या वास्तव में तुम एक दुबली-पतली अबला से ही डिग गये और उस अबला से जो स्वयं अब त्यागमय जीवन बिता रही है ?'

'तो मैं तुम्हें भी कहता हूं, कोशा—तुम भी त्याग के धोखे में हो । छोड़ दो इसे, आओ संसार के उन्मुक्त आनन्द-भोग में हम दोनों रमण करें ।

मुनि विशाखभद्र अत्यधिक उत्तेजित अवस्था में थे । उनके सिर पर वासना का भूत सवार था । कोशा को लगा कि वे कहीं कोई कुचेष्टा न कर बैठें, उसने भय की स्थिति में भी चतुराई से बचने का प्रयास किया ।

कोशा ने अपने बाहरी प्रभाव को कायम रखते हुए कहा—

'ठहर जाओ विशाखभद्र, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूं ।'

'वह क्या ?'

'क्या तुम सचमुच मुझसे प्रेम करने लगे हो अथवा केवल कपट, जाल और वासना का खेल है, तुम्हारा प्रेम ?'

मुनि अब मुनि कहां रह गये थे ? वे तो निगोडी वासना के दास बन गये थे। चाटुकारिता की आवाज मे उन्होंने मिष्ट और शिष्ट बनकर कहा—

'कोशा, मैंने तो अपना समूचा हृदय ही तुम्हें दे दिया है। अब तो इतनी क्रूर न बनो।'

'तो मैं इसकी परीक्षा करूंगी और उसमे उत्तीर्ण होने पर ही तुम्हे मुझसे प्रेम करने का मुक्त अधिकार होगा।'

'इसके लिये मैं तैयार हू, कोशा !'

'मुझे एक रत्नकम्बल की बडी चाह है। यहां से सौ कोस की दूरी पर नेपाल का राजा प्रातःकाल याचकों को वैसा ही रत्नकम्बल दान मे देता है। क्या वह ला सकते हो, तुम मेरे लिये ?'

'मैं अपनी प्रिया की पहली इच्छा पहले पूरी करूंगा'—और विशाखभद्र ने रात्रि के इस निविड़ अन्धकार मे ही नेपाल के लिये प्रस्थान कर दिया।

× × ×

पहाडी के उस किनारे दिन भर का थका सूरज स्वयं निस्तेज होता हुआ डूबा जा रहा था, तभी इस किनारे विशाखभद्र बीहड़ वनों, कटीले रास्तों और भीषण प्राकृतिक आपदाओं को सहन करके एक माह के अपने एकत्र श्रम रूप रत्न-कम्बल को अपने कोख मे दबाये तेज कदमों से चल रहे थे। कोशा को पाने के लिए अधीर बने विशाखभद्र को तभी रात्रि के घटाटोप अंधकार ने रोक लिया। उनके और कोशा के बीच एक रात्रि जैसे अभेद्य

दीवार बनकर खड़ी हो गई ।

विवश हो विशाखभद्र ने उसी घाटी में रात बिताने का निश्चय किया, ताकि प्रात होते ही वे शीघ्र अपनी रूप की रानी के चरणों में नम्र सेवक की तरह रत्नकम्बल की भेंट अर्पित कर सकें । एक चट्टान पर रत्नकम्बल को सिरहाने देकर ज्यों ही विशाखभद्र लेटे, गहरी थकान ने उन्हें तुरन्त निद्रा की गोदी में ढकेल दिया ।

निद्रा की वह गोदी क्या थी—बस वे अपनी कोशा के साथ अठखेलियाँ करने लगे । स्वप्निल संसार में उन्होंने देखा—वे कोशा की सुकोमल जंघा का तकिया बनाकर लेटे-लेटे प्रेम की मीठी मीठी बातें कर रहे हैं और उन्होंने सोचा—यह मधुर सहवास बस इसी तरह चलता रहे । तभी बाहर के संसार में उनकी आशाओं पर कुठाराघात करने एक चोर आया—उसने धीरे से रत्नकम्बल को उनके सिर के नीचे से निकाला और उसे चुरा कर भाग गया ।

अचानक विशाखभद्र को ऐसा लगा—जैसे कोशा ने अपनी जंघा उनके सिर के नीचे से हटा ली हो और उनका सिर नीचे लुढ़क गया हो । तुरन्त ही वे हड़बड़ा कर उठ बैठे । देखा तो कि सपने का आघात असली का आघात बन गया है । वे एकदम मतिमूढ़-से हो गये किन्तु वासनातुरता ने फिर भी उन्हें निराशा का पल्ला नहीं पकड़ने दिया । वे वेग [illegible] फिर नेपाल की ओर चल पड़े ।

× × ×

'तुम आ गये, मुनि !'

'हाँ कोशा, मैं आ ही गया हूं । कितनी कठिनाइयां आईं किन्तु कोशा के नाम से ही सब कटती गईं । एक पल भी तो मैं तुम्हें नहीं भूल सका हूं, मेरे प्रिये—यह लो तुम्हारा प्यारा रत्न-कम्बल—और विशाखभद्र ने अपनी कांख से चमचमाता रत्नकम्बल निकाल कर कोशा के हाथों में थमा दिया ।

'ठहरो, पहले मैं स्नान कर लेती हूं'—यह कहकर कोशा ने रत्नकम्बल पुनः विशाखभद्र के हाथों में दे दिया और स्वयं स्नान करने भीतर चली गई ।

स्नानोपरान्त कोशा ने विशाखभद्र के हाथों से उस रत्न-कम्बल को लिया और उनके देखते-देखते उसने अपने पांव पोंछ कर कोशा ने रत्नकम्बल को बाहर नाली के कीचड़ में फेंक दिया ।

विशाखभद्र को काटो तो खून नहीं । वे भ्रमित-से हो गये कि कोशा ने यह क्या कर डाला ? रोष से भरकर वे कठोर स्वर में बोले—

'कोशा, यह क्या कर डाला तुमने ? बीहड़ वन, नदी, घाटी और पर्वतों के महीनों के मेरे रोमांचक कष्टों के फल का तुमने ऐसा दुरुपयोग किया, यह क्या मेरे प्रेम का अपमान नहीं है ?'

'रत्नकम्बल के तनिक-से परिश्रम का बड़ा ख्याल आया तुम्हें मुनि और वर्षों की कठोरतम साधना को एक पल भर में भ्रष्ट करने की इच्छा करते हुए तुम्हें पल भर के लिए भी विचार नहीं आया ? मुनि, त्याग का रहस्य हृदय की आन्तरिक भावनाओं में निहित होता है, केवल मुनिवेश धारण कर लेने मात्र से कोई त्यागी नहीं हो सकता.... .

'मुनि विशाखभद्र, यहां मैं वासना की पुतली कहलाने

नर्तकी और कहाँ तुम त्याग की मूर्ति कहलाने वाले मुनि ! अपने स्वरुप की ओर एक बार निहारो तो सही ... .

'मनुष्य जीवन आसान नहीं और उसमें त्याग की साधना आसान नहीं । मेरा नम्र निवेदन है, कि मुनि एक बार फिर से अपने अतीत में प्रवेश कर जाओ और उन बीते हुए वर्षों को निष्फल न बनाओ.... .'

मुनि विशाखभद्र के ज्ञानतंतुओं पर जैसे एक मार्मिक चोट लगी । वे नर्तकी की प्रेरणा में खो गये कि वे कहाँ से गिरे, कैसे गिरे और गिर कर किस रसातल तक पहुंच गये हैं ?

एक बार गहरे गिर कर भी जिसका चैतन्य पुनः लौट आए—उसी को कहते हैं कि सुबह का भटका कम-से-कम शाम को घर लौट तो आया । कोशा की ललकार ने मुनि विशाखभद्र को फिर मुनि बना दिया । आत्मविह्वलता से उनके नेत्रों से प्रायश्चित के आंसू झर-झर गिरने लगे । कोई शब्द उनके मुख से निकल सके, ऐसी उनकी मानसिक अवस्था नहीं रहा ।

तभी कोशा के मुख से निकला—

'मुनि, शायद आप जानते हैं या नहीं, किन्तु आज स्थूलिभद्र मुनि की महानता मेरे लिए और भी ऊंची हो गई है । वे पूज्य हैं—श्लाघ्य हैं ।'

स्थूलिभद्र का नाम—एक क्षण के लिये विशाखभद्र चौंके, किन्तु उनकी वासना के साथ उनका क्रोध और मान भी बह गया था । फिर भी लज्जा से आरक्त हो सहज नम्रता से बोले—

'तुम स्थूलिभद्र को कैसे जानती हो ?'

'पहले मैं उनकी प्रेमिका थी और उनके मुनि बनने के बाद गत चातुर्मास से उनकी शिष्या हूं'—यह कहते हुए कोशा के मुख पर आत्मानन्द की तरल आभा खेल रही थी।

आंसू भरी आंखों और रुंधे हुए कंठ से मुनि विशाखभद्र ने धीरे से इतना ही कहा—

'तो तुम मुझे अपना शिष्य बना लो कोशा, ताकि मुनि स्थूलिभद्र की शिष्या का शिष्य होकर सच्चा प्रायश्चित्त कर सकूं। आज मैं समझता हूं—नैतिकता किसी की थाती नहीं, मन की शुद्ध भावनाओं की सहेली होती है।'

सौन्दर्य-दर्शन

अभिमान वह विकार होता है, जो मनुष्य को सहज स्वाभाविकता से हटा कर कृत्रिम बना देता है। जहाँ कृत्रिमता आती है, प्राकृतिक सरलता नष्ट हो जाती है। सरलता नहीं तो सच्ची सुन्दरता भी नहीं। आकर्षण सच्ची सुन्दरता का होता है और अभिमान ऐसे आकर्षण का शत्रु है।

सौधर्मेन्द्र अपनी सुसज्जित परिषद् में सौन्दर्य एवं देहकान्ति के प्रसंग में सनत्कुमार चक्रवर्ती की अतीव प्रशंसा करते हुए बोले कि उनकी दैहिक कान्ति इतनी दिव्य है जिसके सामने देव का रूप भी फीका लगता है।

कुछ देवों को यह प्रशंसा अतिशय मालूम हुई और उनमें से एक देव स्थिति का निरीक्षण करने के लिए माया का रूप धरकर स्वयं ही चल पड़ा।

× × ×

एक वृद्ध ब्राह्मण सनत्कुमार चक्रवर्ती की राजधानी की ओर जाने वाले पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा था। यद्यपि उसके कदम लड़खड़ाने लगे, फिर भी एक अद्भुत उत्सुकता से

इसे आगे और आगे खींचे चली जा रही थी । गति में शिथिलता झलक सकती थी मगर वृद्ध के मन में अमित उत्साह भरा हुआ था । आंखें अन्दर धस रही थीं—पथराने-सी लगी थीं, परन्तु जैसे उन गहरे गड्ढों से निकल कर एक नई आशा की नई रोशनी पथ को प्रकाशित करती चली जा रही थी ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार के राजप्रासाद पर खड़ा हुआ द्वारपाल दूर से आते हुए उस वृद्ध को देखकर यह नहीं समझ सका कि किस आशा ने इस अतिशय वृद्ध शरीर मे भी गति और शक्ति की ऐसी तेज बिजली भर दी है ?

'क्यों भाई, चक्रवर्ती सनत्कुमार के राजप्रासाद ये ही हैं'—हांफते हुए उस वृद्ध ब्राह्मण ने द्वारपाल से पूछा ।

'हां, उनका राजप्रासाद तो यही है, परन्तु क्या मैं आपसे एक बात पूछ सकता हूं ?'—द्वारपाल अपने कौतूहल को दबा न सका ।

'क्यों नहीं, अवश्य पूछो'—वृद्ध के पोपले मुंह पर तरल मुस्कान खेल रही थी ।

'आपका यह वृद्ध एवं दुर्बल गात—आपके ये अति जीर्ण-शीर्ण वस्त्र एवं पादत्राण बतला रहे हैं कि आप कहीं बहुत दूर से आ रहे हैं, ब्रह्मदेव !'

'भाई दूर ही नहीं, बड़ी दूर से'—वृद्ध ने यह कहकर ऐसा निःश्वास छोड़ा जैसे बहुत चलने से छुट्टी पाकर उनके मन ने एक राहत की सांस ली हो ।

'तब आपने इतनी यह यात्रा किस ओर क्यों प्रारम्भ की थी'—द्वारपाल ने पूछा ।

'मैंने अपनी यह यात्रा कब प्रारम्भ की—तुम पूछा तुमने भी'—और वृद्ध जैसे अपने अतीत में खो गया और उसी खोये हुए अनुभव से उसने धीरे-धीरे कहना शुरू किया—

'मेरी यात्रा की अब तो एक कहानी ही हो गई है। इतना लम्बा अर्सा बीत गया है इस यात्रा को शुरू किये कि हकीकत में यह कहानी ही हो गई है.......

'जब मैंने अपनी यौवन की देहरी पर अपना पाँव रखा ही था—नई बहारें देखी नहीं थीं, तभी मैंने चक्रवर्ती सनत्कुमार* के अनुपम सौन्दर्य की कीर्ति सुनी। लोगों ने बताया कि ऐसी सुन्दरता आज तक किसी ने नहीं देखी—वह अद्वितीय है, दर्शनीय है ...

'बस, तुरन्त ही ऐसे सौन्दर्य के दर्शन की मेरी लालसा अति उग्र बन गई और मैं उसके हेतु घर से निकल पड़ा। [illegible] लगा था—तभी से मैं चल रहा हूँ—बराबर चल रहा हूँ—इसी उत्सुकता में कि सारी दुनिया पार कर एक दिन मैं उनका भी दर्शन अवश्य कर सकूँगा। अब तो मैं [illegible] पर पहुँच गया हूँ, कोई मुझे [illegible] न [illegible], [illegible]। [illegible] इस तरह निवेदन करो कि वे मुझे [illegible] बिना अन्दर बुला लें और उनका सौन्दर्य दर्शन करने दें—' [illegible] ने सचमुच ही द्वारपाल का हृदय [illegible]।

वृद्ध ब्राह्मण के मुख पर ऐसी आकर्षक चमक थी जैसी [illegible] प्राप्त होने पर [illegible] पिता के मुख की [illegible] पर [illegible] चमक उठती है और ऐसी ही उत्सुकता कि वह [illegible]

*चक्रवर्ती का [illegible] सनत्कुमार [illegible] गया है।

नहीं रुकेगा। उसे देखकर द्वारपाल ने भी विलम्ब करना उचित नहीं समझा और वृद्ध के लिये प्रवेशाज्ञा लाने वह तुरन्त भीतर चला गया।

× × ×

'जय हो छः खंड के नाथ की—' चक्रवर्ती के प्रथम दर्शन के साथ ही वृद्ध ब्राह्मण ने जयनाद किया।

द्वारपाल ने वृद्ध को ठेठ वहीं पहुंचा दिया था, जहां सनत्कुमार स्नान करने की तैयारी में अपने स्नानागार में बैठे थे। केवल एक वस्त्र लपेट रखा था और शरीर का शेष भाग खुला हुआ था—उस पर किसी किस्म की कोई सजावट भी नहीं थी।

वृद्ध ने ज्यों ही उस सौन्दर्य का प्रथम दर्शन किया, वह तो जैसे मगन ही हो गया। अपलक नेत्रों से वह उस ओर देखता ही रहा—देखता ही रहा। सधी हुई नजर से वह उस सौन्दर्य का रसपान करता हुआ ऐसा लग रहा था जैसे वह कल्पना के किसी दूसरे ही संसार में रम गया हो। प्रफुल्लवदन वह वृद्ध जैसे पुनः अपने यौवन की देहरी पर पहुंच गया और मन ही मन विचार करने लगा, इन्द्र ने जो कुछ कहा वह वस्तु सत्य है।

'वृद्ध, क्या तुम मेरे सौन्दर्य-दर्शन के अभिलाषी होकर आये हो ?'—सनत्कुमार उस वृद्ध की अतीव प्रफुल्लता से प्रसन्न होकर बोले।

'हां राजन्, यह मेरी चिर अभिलाषा थी। अपने [illegible] यौवन की आकृति देखकर भी आज मैं धन्य हो गया हूं' [illegible] किशोर वृद्ध ने उत्तर दिया।

चक्रवर्ती फूले न समाये—अभिमान से फूल ही गये । उपेक्षा-भाव के साथ उन्होंने कहा—

'तो अभी क्या देखते हो ? अभी तो मैं शृंगारहीन स्नानागार में बैठा हूं । मेरा सौन्दर्य ही देखना है तो उस समय आना, जब मैं अपने सम्पूर्ण शृंगार के साथ राजसभा में सिंहासन पर आसीन होऊं । वीणा की झंकार के बिना गाने में मधुरता नहीं आती, समझे !'

वृद्ध का सपना तो जैसे टूटा ही नहीं, उसने फिर भी यही कहा—

'मैं तो आपकी इसी छवि को सुन्दरतम मानता हूं और इसे देखकर विस्मय के सागर में मैं तो डूब गया हूं, राजन् ! हृदय में हर्ष का आवेग समा नहीं रहा है ।'

वृद्ध तो जैसे निहाल हो रहा था, मुस्कुराता हुआ बाहर सोचने लगा कि इस अपूर्व सौन्दर्य-वर्णन से उसके जीवन का सारा श्रम सार्थक हो गया है ।

× × ×

'वृद्ध, अब देख इस बार, जिसे देखने के लिए तू कहाँ से भटकता चला आ रहा है । स्नानागार में तो इस सौन्दर्य का सहस्रांश भी नहीं था ।

रनती थी। सभा में अधीनस्थ राजा, महाराजा और सामन्त गण चक्रवर्ती के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए यथास्थान बैठे हुए थे।

अपनी अपार ऋद्धि एवं अपूर्व ऐश्वर्य के बीच परिपूर्ण शृंगार किये हुए चक्रवर्ती का सौन्दर्य जैसे अब सहस्रगुणित होकर प्रदीप्त हो रहा था। वह सौन्दर्य जैसे देखा ही जा सकता था, देखकर उसे अघा पाना भी शक्य नहीं था।

चक्रवर्ती के सिंहासन के ठीक सामने वह वृद्ध ब्राह्मण खड़ा था। उसने चक्रवर्ती के वचन भी सुने, किन्तु फिर भी वह इस तरह विचार-मग्न खड़ा रहा जैसे किसी टेढ़े सवाल में फंसकर कुछ भूल सा गया हो। उस हजार गुनी सुन्दरता के सामने भी प्रसन्नता की एक क्षीण रेखा उसकी आकृति पर प्रकट नहीं हुई।

'अरे वृद्ध, इधर देख, गर्दन झुका कर क्या खड़ा है? तब तुझे समझ में आयेगा कि तेरी सौन्दर्य-दर्शन की चिर अभिलाषा स्नानागार में पूरी नहीं हुई थी—वह अब हो रही है।' चक्रवर्ती ने भरपूर अभिमान से अपने चेहरे को तान कर फिर कहा।

पर वृद्ध न तो कुछ बोला और न उसने अपनी गर्दन ही सनत्कुमार की उस सुन्दरता को देखने के लिये ऊपर उठाई।

'कहाँ खो गये हो, वृद्ध, क्या बात हो गई? मेरी ओर देखो तो—'

उदास और शान्त क्यों हो गया है ? बोले—

'कैसी चिन्ता में डूब गये हो, वृद्ध, तुमने अब इस [illegible] सौं-दर्शन पर अभी तक अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं की—आखिर क्या हो गया है तुम्हे इस समय ?' चक्रवर्ती के स्वर में अपनी सुन्दरता की प्रशंसा सुनने की अजीब व्यग्रता थी।

'क्या कहूं, स्वामी, आपके सौन्दर्य-दर्शन का सच्चा आनन्द तो मैं पहली ही भेंट में पा चुका। अब तो आपकी यह सुन्दरता विकृत हो चुकी है—मेरे लिये अब इसे देखने में कोई आकर्षण नहीं रह गया है। आप मुझे क्षमा करें।' वृद्ध ने फिर नीची नजर कर ली।

'क्या कह रहे हो, तुम ?'

'मैं सिर्फ सत्य को ही प्रकाश में ला रहा हूँ, महाराज, इसमें असत्य कुछ भी नहीं है।'

'तुम्हारा सत्य मेरी समझ में नहीं आ सका है, वृद्ध।'

'राजन्, घी अमृत है, पौष्टिक है, किन्तु कांसे के पात्र में उसे बार-बार घिसने से वही विष बन जाता है।'

'क्या यह अभिप्राय है तुम्हारा कि [illegible] रूप सौन्दर्य अब विष रूप बन गया है ? मैं जानना चाहता हूँ कि वह कांसे का पात्र क्या है ?' चक्रवर्ती का [illegible] तमतमा उठा।

'क्षमा चाहता हूँ, सम्राट्, वह कांसे का पात्र आपका [illegible] अभिमान है। सुन्दरता और सुन्दरता का [illegible], [illegible] का नहीं। अभिमान उस सुन्दरता को [illegible] देता है।

'सौन्दर्य की जो सरसता और यथार्थता मैंने स्नानागार में देखी थी, वही अब अभिमान के दुर्योग से मिथ्या अहंकार में बदल कर विकृत हो गई है। शारीरिक सौन्दर्य वैसे ही नाशवान् होता है जो कि वास्तव में सौन्दर्य नहीं किन्तु जो भी बाह्य आकर्षण होता है, वह मान से मिलकर मिट्टी बन जाता है। आप कुछ भी समझें, स्नानागार से लेकर राजसभा तक आपकी सुन्दरता भी इसी दशा को प्राप्त हो गई है।' वृद्ध एक दार्शनिक की तरह बोल रहा था।

'वृद्ध, तुम जानते हो, यह कहकर तुम मेरे से भी अधिक मेरी सुन्दरता का अपमान कर रहे हो। मैं तुम्हारे कथन का प्रमाण चाहता हूं।'

'तो प्रमाण भी दूंगा, स्वामी।'

वृद्ध ने चक्रवर्ती से पीकदान में थूकने और उसे महावैद्यों द्वारा परीक्षित कराने का निवेदन किया।

चक्रवर्ती के आश्चर्य और दुःख का पार नहीं रहा जब उन्हें महावैद्यों ने बताया कि उनके थूक में सोलह महारोगों के कीटाणु पाये गये हैं। अपने शरीर की इस अनोखी सुन्दरता की ऐसी दशा पर जैसे वे तनिक भी विश्वास नहीं कर पा रहे थे। निराशा की घनी चादर के नीचे उनका मान और मन दोनों दब गये। टूटे हुए स्वरों में वे धीरे-धीरे बोलने लगे—

सच्चा स्वाभिमान वह है जो अमर गौरव के रूप में बना रहे। मैं अब उसी गौरव को प्राप्त करूंगा ...

मेरा गर्व आज खंडित हो गया है, पर मुझे एक नई राह मिली है। तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं, वृद्ध, तुमने मुझे जीवन का एक अमूल्य पाठ पढ़ाया है। सच्ची सुन्दरता शरीर में नहीं, मनुष्य की कृति में है—सहज सरलता में है जो अमर रहती है। यथार्थ में आत्मा का सौन्दर्य ही अपूर्व और अनश्वर होता है, अतः वही उपासना के योग्य है... ..

'वृद्ध, तुम मेरे गुरु हो .. ...'

और सुन्दरनाग [illegible] के नाश का [illegible] ज्यों ही सुन्दरता से [illegible] पारखी वृद्ध के पांवों में झुकने लगा, त्यों ही नागरिकों को दिखाई दिया कि वृद्ध के स्थान पर देदीप्यमान ज्योति से आलोकित [illegible] ही प्रणाम कर रहा है।

× × ×

मुनि ने अपने मुंह का थूक लेकर अपने शरीर के एक भाग पर मला और उसके मलते ही उतने भाग पर कुष्ठादि सारे रोग समाप्त होकर पल भर मे शरीर का वह भाग कंचन की तरह दमकने लगा। भक्त इसे आश्चर्यान्वित होकर देखता ही रह गया।

तब मुनि सनत्कुमार ने आगे कहा—

'असली बात तो यह है कि मैं इन रोगों को ठीक करना नहीं चाहता। मैं इन रोगों की वेदना मे मेरे शारीरिक सौन्दर्य के पूर्व अभिमान को पूरी तरह से गला देना चाहता हूं ताकि अविनाशी आत्मिक सौन्दर्य का प्रादुर्भाव हो सके। मैंने यह देख लिया है कि नश्वर पदार्थों पर अभिमान भरा स्वामित्व जतलाने वाले के हाथ कष्ट और पश्चात्ताप के सिवाय कुछ नही आता।'

भक्त अपार श्रद्धा से अभिभूत होकर बोला—

'पर आप कितने कष्टसहिष्णु हैं ? धन्य हो, गुरुदेव !' और यह सनत्कुमार के चक्रवर्ती से मुनि जीवन के आदर्श पर गंभीरता से विचार करने लगा।

'सौन्दर्य-दर्शन जीवन का चरम उद्देश्य होता है और होना चाहिये, परन्तु संसार उस सौन्दर्य के स्वरूप को समझने में भूल करता है। मन, वाणी और कर्म को सत्य की राह पर चलाने से ही वास्तविक सौन्दर्य के निकट पहुँचता है और इस तरह जो वास्तव में सुन्दर है, वही परमानन्द का अनुभव करता है....

'केवल शारीरिक सौन्दर्य प्रवंचना है, क्योंकि वह नश्वर है और नश्वर में अनश्वर आनन्द कहाँ से आयेगा? यदि अनश्वर आनन्द चाहिये तो फिर अनश्वर आत्मिक सौन्दर्य को ही अपनाना होगा। ऊपर से रोगी और मलीन असुन्दर देह वाला मैं अपने आपको आत्मिक-सौन्दर्य के समीप गमन करता हुआ अनुभव कर रहा हूं और यही मेरा सच्चा सौन्दर्य-दर्शन है। सौन्दर्य शरीर में नहीं, वरन् गुणों की रति में है, देवानुप्रिय!'—और मुनि का मुखमण्डल दिव्य तेज से चमक रहा था।

पदाघात

महाराज श्रेणिक अपने भव्य झरोखे में बैठे इसी चिन्ता में डूबे हुए थे कि महारानी धारिणी के दोहद (गर्भावस्था की इच्छा) की इस असमय में कैसे पूर्ति की जाये ? वैशाख माह की भीषण तापतप्तता और उष्णता में भला मेघाच्छादित गगन से बरसते हुए सूक्ष्म जलकणों में भ्रमण के आनन्दानुभव की इच्छा कैसे पूरी की जा सकती है ? दोहद पूरा न हो—यह भी उचित नहीं, क्योंकि इसका दुष्प्रभाव माँ और बालक के मानस पर अतृप्ति की छाप अंकित कर सकता है।

महाराज कभी प्रखर किरणों से प्रदीप्त उस सूर्य की ओर देखते तो कभी नीचे तपती हुई धूमिल धरती की ओर तथा अन्यमनस्क होकर उपाय खोजने में अधिक विचार व्यस्त हो जाते।

'महाराज सुख और वैभव से भरे इस राज्य में राज्य के स्वामी ही किस विशिष्ट चिन्ता में डूबे हैं ?' श्रेणिक के पुत्र तथा राज्य के प्रधान अभयकुमार ने ऐसे ही समय प्रवेश करके विनम्र जिज्ञासा की।

श्रेणिक ने उसे सुना ही नहीं, दोपहरी के इस तीव्र [illegible] और आकाश को वे इसी तरह गहरी चिन्ता से देखते रहे।

कुमार उद्विग्न हो गये, फिर बोले—

‘आपकी ऐसी गहरी चिन्ता को देखकर मेरा चित्त भी व्याकुल हुआ जा रहा है पूज्य!’

श्रेणिक ने एक नजर अभयकुमार के चेहरे पर डाली और अपनी उलझन उनके सामने रखने लगे। सब सुनकर अभयकुमार ने प्रसन्नतापूर्वक निवेदन किया—

‘पिताश्री, आप चिन्तित न हों। मेरे एक मित्र देवता हैं और उनकी माया-महानता से इस [illegible] में भी आकाश से फुहारें बरसाकर माता के दोहद की पूर्ति की जा सकेगी।’

मे छुपा गई और विरक्ति के श्रेष्ठ अनुभवों के साथ उन्होने महावीर के चरणो में ही दीक्षित हो जाने का सकल्प बना लिया।

धर्म-देशना की समाप्ति के पश्चात् राजकुमार मेघ ने खड़े होकर प्रभु की सेवा मे करबद्ध निवेदन किया—

'प्रभु, मैं अपने सामने ससार की जलती हुई ज्वालाओ को देख रहा हू और उसमें शीतलता के पुज आप ही हैं। मैं आपके चरणों मे दीक्षा लेकर ही अपना त्राण समझ रहा हू। मुझे अपने चरणों मे थोड़ी-सी जगह दे दीजिये, भगवन्!'

महावीर क्या कहते वे अपने ज्ञानालोक मे जान रहे थे कि राजकुमार मेघ अपने मानव-जीवन को इसी जन्म मे सम्पूर्ण साथक बना देने वाले हैं। उन्होने मर्यादा की भाषा मे कहा—

'हे देवानुप्रिय, तुम्हे जैसा सुख हो, वैसा करो, किन्तु इसके लिये जो कुछ तुम्हे करना है, उसमे विलम्ब कतई मत करो।'

'पूज्य माताजी, आज मैंने भगवान महावीर के दर्शन किये'—मेघकुमार ने महलो मे पहुँच कर अपनी माता से निवेदन किया।

'किन्तु माताजी, इस पवित्र देह में अब मैं अपवित्र आत्मा को कैसे रखूं ?'

धारिणी ने चौंक कर पूछा—

'इसका क्या अर्थ है, मेघ ?'

'माँ, मैंने भगवान के चरणों में दीक्षित होने का निश्चय किया है, जिससे अपनी आत्मा को भी उतनी ही पवित्र बना सकूं।'

माँ अपने बेटे का मुख ही निहारती रह गई, ममता के आवेग से उसके हृदय में ऐसी आंधी चली कि वह मूर्छित हो वहीं गिर पड़ी।

मनुष्य यदि अटल निश्चय एवं साहस के साथ किसी भी सत्प्रवृत्ति में आगे बढ़ने का दृढ़ निश्चय कर लेता है तो फिर कोई भी शक्ति उसे अपने निश्चय से डिगा नहीं सकती। वास्तव में कार्यसिद्धि अटल निश्चय एवं साहस पर ही निर्भर है। मेघकुमार भी इसी निश्चय पर दृढ़ हो गये।

मेघकुमार की अपूर्व उमंग को जानकर माता-पिता ने सहर्ष दीक्षा की अनुमति राजकुमार को प्रदान कर दी ।

× × ×

आज मुनि मेघकुमार की दीक्षा का पहला दिन था । सायंकालीन धार्मिक क्रियाओं से निवृत्त होकर मुनि-जन अपने-अपने स्थान की व्यवस्था करने लगे । साधु-अवस्था में अब मेघकुमार का राजकुमार होने के नाते कोई महत्त्व नहीं था । साधु-अवस्था में तो दीक्षा-वृद्धत्व के अनुसार ही सम्मान का क्रम होता है ।

दीक्षा-वृद्धत्व का अर्थ होता है गुणों की वरिष्ठता । चाहे गृहस्थ का जीवन हो अथवा साधु का जीवन-वास्तव में धन या पद नहीं, बल्कि अन्तस् की उन्नत अवस्था ही सच्चे सम्मान की माप-दण्ड होनी चाहिये । गुणपूजा चैतन्य की प्रतीक है तो धन, प्रतिष्ठा या व्यक्तिपूजा जड़त्व लाने वाली होती है । यही कारण है कि साधु-जीवन में सच्ची प्रतिष्ठा योग्यता एवं आदर्श पर आधारित होती है । मुनि मेघकुमार के लिये भी अब यही कसौटी बन गई थी ।

सुविधा का क्या खयाल रखा जायेगा ? ऐसी दीक्षा से तो घर पर ही रहना अच्छा था ।

.......और अब भी बिगड़ा ही क्या है ? भोर होते ही भगवान् को उनके वस्त्र पात्र सम्हला कर अपने घर की राह लूंगा—यह सब कुछ सहन करना मेरे वश की बात नहीं है । इतना ही नहीं, मेघकुमार मुनि ने यह भी सोच लिया कि स्वयं भगवान भी कितना ही समझायें, प्रतिबोध दें तब भी किसी हालत में मैं नहीं मानूंगा और हर तरह से मैं इस फंद से निकल भागूंगा ।

तनिक से पदाघातों ने मेघकुमार के हृदय की समस्त शुभ भावनाएं दबा दीं । उनका चित्त भ्रांत होने लगा । वे एक ओर वर्तमान पदाघातों के कष्ट को असह्य मानकर व्याकुल होने लगे तो दूसरी ओर घर के ममतामय वातावरण की मीठी याद में तड़पने लगे और येन-केन प्रकारेण रात्रि के व्यतीत हो जाने की प्रतीक्षा में आतुर हो उठे ।

'क्यों मेघमुनि, रात्रि के पदघातों से घबरा कर दीक्षा-त्याग के लिए मेरे सामने उपस्थित हुए हो ?'—भगवान ने सनेह ही मधुर स्वर में पूछा ।

मुख से नहीं निकल सका। लज्जा से उसका मुख नीचे झुक गया। भगवान का विरोध करने के विचार तक हृदय से उड़ गये। दोनों को हाथ में लिये साधु के वस्त्र और पात्र छूटकर नीचे गिर पड़े, जैसे शरीर और उसके सारे अंग निष्प्राण हुए जाते हों।

'शान्त होओ मेघ, कष्टसहन आत्मा की सच्ची साधना है। जब तक शरीर का मोह मौजूद रहेगा, आत्मा की ओर दृष्टि ही कैसे मुड़ेगी? शरीर-सुखों को भूलकर ही तो आत्मा के ध्यान में रमा जा सकेगा। . . .'

'जरा से मुनियों के पदाघातों से ही तुम विचलित हो गये! पहले के जन्म में तुमने जिस महान् सहनशीलता का आचरण किया था, उसी का यह प्रताप था कि तुम्हारे मनोबल में तुम्हारी [illegible] पूरा हुआ और तुम्हें [illegible] प्रतिभासित था। [illegible] बहुत कष्ट-सहिष्णु [illegible] प्राप्त किया और [illegible] से तुम [illegible] गये। .

का कारण यह था कि उस वन के सूखे बाँसों वाले क्षेत्र में दवाग्नि लग गई थी और वायु-वेग के साथ वह समूचे वन-प्रान्तर में फैल रही थी। आग की चपेट से बचने के लिये प्रत्येक पशु-पक्षी जीतोड़ कोशिश में लगा हुआ था।

मेघकुमार अपने पूर्वजन्म में इस वन के स्वामी गजराज थे। आपात्काल को दृष्टि में रखकर इस हाथी ने उस घने वन के बीच एक छोटा-सा मैदान पहले से साफ करके तैयार रखा था, अतः छोटे-बड़े सभी जीव-जन्तु इसी मैदान में अपने आपको ठूंस रहे थे। यह हाथी भी इसी मैदान में शान्त भाव से खड़ा था। उसके चारों पांवों के बीच और आस-पास इतने छोटे-छोटे पशु जमा हो गये थे कि कहीं तिल रखने तक की जगह भी नहीं बची थी।

तभी उस हाथी को अपने पेट पर खाज महसूस हुई। बहुत रोकने पर भी जब खाज ने जोर लगाया तो उसने खुजलाने के लिये अपना एक पैर उठाया और उससे खाज करनी शुरू की, तभी उस रिक्त स्थान में एक खरगोश आकर बैठ गया, जिसे अभी तक कहीं भी पाँव टिकाने की जगह नहीं मिली थी। पैर नीचे रखते समय जब हाथी को वहां किसी प्राणी के आकर बैठ जाने का आभास हुआ तो उसने अपना पैर पुनः ऊपर उठा लिया।

सरकने लगे और [illegible] गामी होने लगा तब वह खरगोश भी वहाँ से फुदक गया। किन्तु तब तक हाथी का शरीर [illegible] टूट चुका था। वह वहीं गिर पड़ा और मर गया, किन्तु सहन-शीलता की जिस श्रेष्ठ भावना से उसका मन अन्त समय तक परिपूरित रहा, उसके फलस्वरूप उस प्राणी को आत्मा को जो पुण्य का प्रसाद मिला, वह उसका मेघकुमार का जन्म ही तो था।

× × ×

भगवान महावीर ने उद्घोषित किया—

एक अनूठा पुरुषार्थ जागृत हो जायेगा जो तुम्हें अपने चरम पर पहुंचा देगा।'

महावीर की इस प्रेरणा ने मेघकुमार के आहत मन पर मरहम का काम किया। पतन की ग्लानि को इस प्रेरणा ने धो डाला। उनके मन में अद्भुत साहस का संचार होने लगा। सहिष्णुता और शान्ति लाभ की कामना बलवती बन गई। मुनि मेघकुमार ने विनम्र और शान्त भाव से प्रभु के ज्योतिर्मय मुख-मंडल को निहारते हुए निवेदन किया—

'भगवन्, क्षमा करें। इस पतनोन्मुखी आत्मा को डूबते हुए आपने बचा लिया। प्रभु, मैं दोषी हूं, मैंने साधु-नियमों की भयंकर अवहेलना की है।'

मुनि मेघकुमार पश्चात्ताप के खेद और नव-संकल्पी साहस के द्वंद से मिश्रित आंसुओं से भगवान के पावन चरणों को धो रहे थे और क्षमा के सागर महावीर केवल मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे।

अनमोल मोती

'अरे मेहतारजकुमार मैं अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार तुझे सचेत करने आया हू कि तू इस ससार के माया-बन्धन से बाहर निकल। भूल मत कि यह ससार मृगतृष्णा है—जो कुछ दिखाई देता है, वह भ्रम है। यह तो सुनहरी कटार के समान है, जो दीखने में सुन्दर दिखाई देती है, लेकिन लगने पर आतों को चीर-कर बाहर फेंक देती है। इस भूल-भुलैया मे तू अपने स्वरूप को भुला न दे—इसीलिये मैं तुझे सावधान कर रहा हू .. .'

मेहतारजकुमार अपने सामने अचानक एक दिव्य मूर्ति को निहार अचरज से भर उठा। उसे समझ मे नहीं आया कि यह कौन है, उसने उसके सामने क्या प्रतिज्ञा की थी और वह सावधानी दिलाने आया है ?

वह दिव्य मूर्ति से पूछने लगा—

'आप कौन हैं और मुझे सचेत करने का आपका क्या अभिप्राय है ?'

'ओहो, आश्चर्य ! तुम अपना कर्तव्य भूल जाने के साथ-साथ क्या मुझे भी भूल चुके हो ? परन्तु ध्यान रखो—मैं तुम्हें भूला नहीं हू और इस समय भी अपनी प्रतिज्ञानुसार ससार से

वैराग्य ले लेने के लिये चेतावनी देने हेतु उपस्थित हो गया हूं—' देवता ने मेहतारज को याद दिलाने का प्रयास किया।

'प्रवर, क्षमा करें—मैंने आपको पहिचाना नहीं और न ही मुझे किसी प्रतिज्ञा की याद आ रही है।'

'तो मेहतारज, मुझे तुम्हें हमारे पूर्वभव की कहानी सुनानी ही पड़ेगी।'

× × ×

'भाई गोविन्द, तुम्हारी क्या राय है? जीवन को कीचड़ से दूषित बनाये रखें या उसे धोकर उज्ज्वल बना लें?'

'ईश्वर भ्राता जी, महात्मा का उपदेश मैंने भी सुना है। बड़े भाई के पीछे-पीछे छोटा भाई भी चलने को तैयार है। आप तो अपनी राय बताइये और मैं भी चल पड़ूंगा।

ईश्वर और गोविन्द दोनों सहोदर भ्राता थे। दोनों ने एक साथ महात्मा का उपदेश सुना और संयोग से दोनों ही एक साथ उस उपदेश से प्रभावित हुए तथा दोनों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण करके ज्ञान का आराधन आरम्भ किया।

एक दिन घबराकर गोविन्द मुनि ने ईश्वर मुनि को कहा।

'तुम्हारे मन में यह दुर्बलता क्यों आने लगी है, गोविन्द! संयम की आराधना क्या कोई फल पाने के लिये की जाती है? उसका तो एकमात्र लक्ष्य है—जीवन के स्वर्ण को संयम की आग में तपाकर न केवल उसे निखार देना बल्कि उसे कुन्दन बना देना। दीक्षा लेकर भी तुम मोहाविष्ट क्यों होते जा रहे हो?

'आप सही कह रहे हैं, भ्राता मुनि जी, मेरे कदम इस रास्ते पर जम नहीं रहे हैं, किन्तु मैं आप से प्रतिज्ञा करता हूं कि जिस प्रकार आप मुझे इस समय प्रतिबोध दे रहे हैं—सचेत बना रहे हैं, उसी प्रकार आने वाले जन्मों में भी आप मुझे याद रखें और सचेत बनाते रहें, ताकि मैं धीरे-धीरे ही सही—इस दुर्बलता को मिटा सकूं।' मुनि गोविन्द ने आग्रह भरे स्वर में कहा।

'मैं तुम्हे बराबर याद रखूंगा और कर्तव्य-पालन के लिये तुम्हें सावधान करता रहूंगा। मुझे विश्वास है कि एक दिन तुम दुर्बलता के घेरे को लांघ कर अवश्य ही इस जीवन-ज्योति को प्रकाशमान बना सकोगे।'

और दोनों मुनि बाहर से मुनि बने रहे, किन्तु भीतर के रास्ते अलग-अलग हो गये। ईश्वर मुनि की साधना निष्काम रूप से चलती रही, किन्तु गोविन्द मुनि ने मन-ही-मन कामना कर डाली कि उसे उसके संयम-आराधन का फल आने वाले जन्म में संसार के सुख और ऐश्वर्य की उपलब्धि के रूप में मिले।

यथासमय दोनों मुनि कालगति को प्राप्त हुए। ईश्वर मुनि का जीव सातवें देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुआ तो उसने अपने ज्ञान में देखा कि गोविन्द का जीव एक महतरानी के गर्भ में

पहुंच चुका है। आखिर भाई का स्नेह था। देवमाया से उसने जन्म होने पर मेहतरानी के पुत्र को एक कोट्याधिपति सेठ की सेठानी की गोदी में पहुंचा दिया और सेठानी के नवजात मृतक पुत्र को मेहतरानी की गोदी में। गोविन्द ने संयम से जो पुण्य कमाया था, उसके प्रभाव से उसकी कामना भी तो पूरी होनी चाहिये थी।

सेठ-सेठानी को अपने पुत्र-जन्म की परम प्रसन्नता हुई और उसका वे सुख और ऐश्वर्य के वातावरण में लालन-पालन करने लगे। वह पुत्र अब युवावस्था की देहरी पर आकर खड़ा था,

इसी का नाम था मेहतारजकुमार?

× × ×

देवलोक की वह दिव्य मूर्ति मन्द-मन्द गति से मुस्करा रही थी और मेहतारजकुमार खिन्न वदन होता जा रहा था।

'क्यों मेहतारज, अब तो तुम्हारी कामना पूरी हो गई है न? जन्म से लेकर इस अवस्था तक तुम सुख और ऐश्वर्य के हिंडोले में झूलते आये हो, अब तो इससे मन भर गया होगा तुम्हारा? अब तो विरक्त होने की इच्छा बना ली होगी तुमने?

'तो इस समय क्या विचार है तुम्हारा, मेहतारज ?'

इस मिठास से मेहतारज को भी कुछ कहने का साहस हुआ। वह बोला—

'हे देव, आप मेरे परम उपकारी हैं। मैं आपकी चेतावनी भूलूंगा नहीं, किन्तु कल ही तो मेरा आठ सुकुमार कन्याओं के साथ विवाह होने वाला है, जिनमें से एक तो राजकुमारी है। मैंने अभी संसार का सुख ही क्या देखा है ? समय तो अब आ रहा है—आप मुझे एक युग (१२ वर्ष) की अवधि तो दीजिये कि मैं कुछ अपनी कामना पूरी कर सकूं। निश्चय मानिये, फिर मैं सारा मोह छोड दूंगा—भोग से त्याग के पथ पर चल पड़ूंगा।'

'संसार की संलग्नता बडी जटिल होती है, मेहतारज—इसे मत भूल जाना। मैं तुम्हे एक युग का समय देता हू, फिर तो कोई बहाना नहीं बनाओगे न ?'

न तो मेहतारज ने कोई उत्तर दिया और न देव ही किसी उत्तर के लिये ठहरा।

× × ×

मेहतारजकुमार के विवाह का दिन था। एक करोडपति के पुत्र का विवाह—फिर ठाटबाट की क्या कमी ? विवाह के उत्सव की शोभा अपूर्व थी। नगर के सारे नागरिक उसे देखने एकत्रित हो रहे थे। मूल्यवान वेशभूषा से सुसज्जित अश्वारूढ मेहतारज का जब विन्दोला चला तो उसकी साजसज्जा देखते ही बनती थी।

आठ-आठ सुकुमारियों के संग परिणय एवं प्रणय की लालसा से एक ओर जहां मेहतारज का मन फूला नहीं समा रहा था तो

दूसरी ओर एक अज्ञात भय उसके मन को कचोट रहा था कि यह सुख-भोग तो उसके लिये एक युग तक ही है और एक युग को बीतते देर ही कितनी लगती है ? उसने अपने मन को समझाया कि वह निश्चिन्त बने—देवता को समझाने का फिर कोई और रास्ता निकाल लिया जायगा । आखिर देवता भी पराया तो नहीं है । उसने अपने मन को मीठे सपनों में सुला दिया ।

× × ×

हास-विलास और भोग-उपभोग की अठखेलियों में दस वर्ष किस प्रकार और कितनी शीघ्रता से बीत गये, इसका भान तक उस महतारजकुमार को नहीं हुआ । यौवन, धन और मदमस्त जीवन भला इन सबको छोड़कर नंगे पैरों कांटे और पत्थरों की राह चलना महतारज को क्यों अच्छा लगता ? किन्तु देवता तो आयेगा ही और क्या कहेगा—इसी सोच में डूबा वह अन्यमनस्क हो रहा था ।

देवता तो अपने गोविन्द भाई का हितैषी था, वह नहीं चाहता था कि दोनों भाई भावना के क्षेत्र में पूरी तरह से बिछुड़ जायें । वह स्वेच्छा से गति करता है किन्तु कभी-कभी किसी को खींचकर भी गति करानी पड़ती है । महतारज ऐहिक सुख को भोग रहा है किन्तु बताओ इन ठाठे-बाटे राग रहने से कब तक चलेगा ?

रही थी। विराग का तो अभी कहीं चिह्न तक स्पष्ट नहीं हुआ था।

इसी समय कक्ष मे एक दिव्य प्रकाश फैला और मेहुतारज समझ गया कि उसकी पुकार आ गई है। अब तो वह दिव्य प्रकाश उसे काट खाने वाला और देव कालपुरुष–सा प्रतीत होने लगा।

'मेहुतारज, विकृति का एक युग बीत गया, अब तो सत्कृति का युग प्रारम्भ करोगे न ?'

वही तरल स्वर, वही प्रेरक उद्बोधन, किन्तु बीज कैसे फले, धरती बजर और सूखी जो हो रही थी ?

'मेरे भ्राता देव, बारह वर्ष तो बारह क्षण की तरह बीत गये। कुछ पता ही नही चला कि मैंने कुछ सुख भोगा भी है। अभी तो मेरे पुत्र–पुत्रियां बाल्यावस्था मे ही हैं। उन्हे बडे हो जाने दो—ब्याह लेने दो। एक बार पितामह तो बन जाने दो—फिर ससार को छोडना तो है ही। इतनी भी क्या अधीरता है आखिर ? मैं वचनबद्ध जो हू'—मेहतारज ने फिर एक युग की अवधि की और मांग की।

देवता ने हार–थककर कहा—

'ठीक है, एक युग की अवधि और देता हू, किन्तु वादा करो कि तीसरी बार तुम और अवधि नहीं मांगोगे। ध्यान रखो कि यह दलदल ऐसा ही है जिसमें से पैर निकाल लेना आसान नहीं होता और यदि तुमने अपनी चेतना शिथिल बना दी तो पैर अन्दर और अन्दर धसता ही जायेगा।'

इतना कहकर देव फिर अन्तर्ध्यान हो गया।

× × ×

'मेहतारज, अब तो तुम्हारी कामना-पूर्ति में कोई कसर नहीं रही है। संसार का सब कुछ देख और भोग लिया है, तुमने। अब तो शरीर भी जर्जर होने लगा है, कामनाएं भी जर्जर हो रही होंगी। घोषणा करवा दूं मैं नगर में कि मेहतारज मुनि बन रहे हैं।'

देवता की बात अब भी मेहतारज को नहीं रुच रही थी। ऐसा होता है विष्टा का स्वाद कि विष्टा का कीड़ा उसमें से बाहर निकलना ही नहीं चाहता है। वह बोला—

'मन कहां भरा है अभी—जरा पोतों की बहुओं का मुंह तो देख लूं। बस इतनी-सी देर और सहन कर लो, देव, फिर मुनि तो बनूंगा ही।'

जिसे वितृष्णा में फंसे रहने पर विचार नहीं—अपने वचन तोड़ने पर भी जिसे लज्जा नहीं, वह तो धृष्ट हो गया है—यह सोच देवता कुपित हो उठा और उग्र स्वर में बोला—

मेहतारजकुमार सायंकाल रथ में बैठकर भ्रमण करने जा रहा था। अभी उसका रथ मुख्य बाजार के बीच में होकर गुजर ही रहा था कि एक वयोवृद्ध मेहतर और मेहतरानी ने अपने मैले की टोकरियां एक ओर रखकर घोडे की रास पकड ली। मेहतारज हक्का-बक्का होकर देखता ही रह गया कि यह क्या मामला है? उसने रथवान से रथ रोकने को कहा और बाहर झांकते हुए उसने गुस्सा दिखाकर डांटा—

'शर्म नहीं आती तुम लोगों को जो बीच बाजार बिना कारण मेरा रथ रोककर खडे हो गये हो?'

मेहतर और मेहतरानी मेहतारज के बिलकुल समीप चले आये और रो-रो कर जोर-जोर से कहने लगे—

'तू नहीं जानता कि तू हमारा बेटा है। एक देवता ने ऐसी माया की कि वे तुझे हमारे घर से सेठ के यहां चुरा ले गये और उनका मरा हुआ लडका हमारे यहां डाल गये। हमारे फूटे भाग कि तेरे जैसा बेटा होते हुए हम निपूते कहलाते रहे। अब तो हम तुझे छोडेंगे नहीं। इस रथ को अब अपने इन माता-पिता के घर की ओर मोड दो—'

सैकडों नागरिक इकट्ठे हो गये। एक अजीब सन्नाटा छा गया। मेहतारज को काटो तो खून नहीं। उससे कुछ बोलते ही नहीं बना। एक करोडपति के लडके को भंगी कहता है कि यह मेरा लडका है—यह कैसी बात है?

एक समझदार नागरिक ने आगे बढकर मेहतर को पूछा—'ऐसी बेतुकी बात तू कैसे कहता है? जानता नहीं, ये सेठ के बेटे और राजा के जवाई हैं। ये तेरे बेटे हैं—इसका क्या सबूत है तेरे पास?'

मेहतर ने छाती ठोक कर कहा—

'मुझे यह तथ्य उस देवता ने बताया है, जिसने जन्म के समय नरकों की अदला-बदली की थी—'

तभी आकाश में बादलों की गड़गड़ाहट जैसी कर्कश ध्वनि हुई और उस देवता ने मेहतर की बात की पुष्टि की। सभी लोग एक दूसरे का मुंह देखते रह गये और मेहतारज तो सारी देवमाया को समझकर अपने प्रति बीभत्स ग्लानि से भर उठा।

सारे जन-समुदाय के बीच ही उस देवता ने खुले तौर पर मेहतारज से पूछा—

'कहो मेहतारज, अब तो साकार है तुम्हारा मन पर क्या है अथवा अभी भी कोई और कामना बाकी है? तृष्णा का कोई अन्त नहीं है, किन्तु तुम्हारे लिये मुझे यह अन्त लाना पड़ा है। अब तो दीक्षा के लिये तैयार हो न?'

मुनि मेहतारज ने संयम और तप की वह कठोर साधना प्रारम्भ की कि सभी आश्चर्य करने लगे। उन्होंने संकल्प कर लिया कि जितना मैल इतने वर्षों में उन्होंने इकठ्ठा किया है, उसे वे उतने ही महीनो मे धो लेंगे। एक-एक मास तक अनशन रखते— फिर एक दिन हल्का-सा भोजन करते और दूसरे दिन से फिर एक माह की तपस्या का व्रत ले लेते। वे कृशकाय होते हुए निरन्तर पुष्टात्मा बनते जा रहे थे।

एक दिन मास भर की तपस्या पूरी होने पर पारणे के निमित्त भिक्षा लेने मुनि मेहतारज यत्र-तत्र भ्रमण कर रहे थे। इतने में एक वृद्ध स्वर्णकार ने उन्हें देखा तो दौडकर अपने घर भिक्षा ग्रहण करने हेतु भक्तिपूर्वक निवेदन किया। उस समय वह स्वर्णकार महारानी के लिये मूल्यवान मोतियों का एक हार बना रहा था। मूल्यवान मोती और सोने के टुकडे उसकी पीठिका पर यत्र-तत्र बिखरे पडे थे, वह उन्हे वैसे ही छोडकर भक्तिवश दौड़ पड़ा था।

वह मुनि को लेकर अपने मकान के भीतरी भाग में गया और मुनि को आहार बहराने लगा। इस बीच स्वर्णकार का पालतू मुर्गा आकर पीठिका पर से दाने समझ उन मूल्यवान मोतियों को चुग गया और पंख फड-फडाकर वापस बाहर चला गया। रसोई की एक बारी से मुनि ने मुर्गे को मोती चुगते हुए देख लिया था किन्तु स्वर्णकार की नजर वहां नहीं पड़ रही थी।

मुनि आहार ग्रहण करके यतनापूर्वक बाहर निकलकर अपने स्थान की ओर बढ चले। थोडी देर मे स्वर्णकार जब बाहर आया और उसने पीठिका पर मूल्यवान मोती नहीं देखे तो एकदम घबरा उठा। ऐसे मूल्यवान मोती कहीं अन्यत्र प्राप्य नहीं थे और उनकी

हानि के लिये राजा कैसा और कितना दंड दे—इसकी कल्पना से ही वह वृद्ध घूमने लगा।

तत्क्षण उस वृद्ध के मन में आया कि इस समय मुनि के सिवाय कोई आया नहीं, इसलिये यह काम मुनि ने ही भ्रष्ट होकर किया है। वह वहीं से भागा और किसी तरह मुनि को वापस वहाँ लेकर आया। घर के भीतर ले जाकर उसने पूछा—

'मुनि होकर भी आपकी ममता छूटी नहीं है। मेरे मूल्यवान मोती आप ही ने लिये हैं। जल्दी से निकाल दीजिये या कहाँ छिपाये हो, बता दीजिये, वरना मेरी तो मौत होगी ही किन्तु आप भी नहीं बच सकोगे।'

वृद्ध भय और क्रोध से पागल हो रहा था। मुनि ने सोचा कि यदि वे सत्य कह देते हैं तो पागल बना यह वृद्ध अभी ही मुर्गे की घात कर देगा और उससे स्वयं पहले अहिंसा का महाव्रत खंडित होगा। इसलिये उन्होंने मौन ही रहने का निश्चय किया।

'आपकी ममता नहीं छूटी, किन्तु लगता है, आपका [illegible] भी नहीं छूटा है। अब भी सच कह दो और मोती दे दो—' वृद्ध ने [illegible] आरम्भ किया।

घोर यह कठिन यातना ! ज्यों-ज्यों कड़ी धूप के प्रभाव से गीला चमड़ा सूखकर सिकुड़ने लगा, त्यों-त्यों मुनि का सिर भिचने लगा और मस्तक की नसें फटने लगीं। एक प्राणी की रक्षा के लिये उस अपार वेदना को भी वे शान्तिपूर्वक सहने लगे। वृद्ध स्वर्णकार खड़ा प्रतीक्षा करने लगा कि मुनि मूल्यवान मोतियों के बारे में अब बतावें—अब बतावें।

प्रतीक्षा से जब वह थक गया तो बाहर चला गया। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि वे सभी मूल्यवान मोती मुर्गे की बींट में निकले हुये पड़े थे। उन मोतियों को देखते ही वह भीतर भागा कि मुनि को यातना मुक्त कर दे और उनसे अपने शंका भरे दुष्कृत्य के लिये क्षमा मांगे।

किन्तु यह क्या ? मूल्यवान मोती तो मिल गये थे, मगर अनमोल मोती जा चुका था। वृद्ध स्वर्णकार वहीं सिर पकड़ कर बैठ गया। वह क्या जाने कि वह अनमोल मोती गया नहीं, अपने विकास के अन्तिम निखार को पाकर अमर बन चुका था।

अंगूठी

प्रतिदिन की तरह ज्यों ही षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती भरत महाराज स्नान-मज्जन से निवृत्त हो शृंगार करने शीशमहल में प्रविष्ट हुए, उनके सुन्दर शरीर की लाखों प्रतिच्छायाएं उन स्वच्छ दर्पणों में प्रतिबिम्बित होने लगीं। शीशमहल की चारों दीवारों, छत व फर्श पर समूचे रूप से दर्पण जड़े हुए थे और प्रत्येक दर्पण खंड में भरत महाराज की आकृति दिखाई दे रही थी।

जैसे ज्ञानी के ज्ञान से अव्याप्त इस जगत् में कोई स्थल नहीं होता, उसी तरह शीशमहल का कोई स्थान उस समय उस दिव्य-दर्शन मूर्ति के प्रतिबिम्ब से रहित नहीं था। ऊपर, नीचे, तिरछे— सभी ओर उस भव्य विभूति को अपने अंक में समाकर मानों अपार हर्ष से विहसित हो रहे थे।

सौन्दर्य-शोभा का कहना ही क्या । अनुपम वस्त्रा-भूषण से सुसज्जित स्वय देवेन्द्र भी इतना सुन्दर दिखाई न देता होगा । अपना मनोहारी रूप स्वय ही देखकर वे फूले न समाए ।

वे विचार करने लगे—

'सौन्दर्य की एक झलक भी अपूर्व होती है । सुन्दर शरीर पर सुन्दर शृ गार की सज्जा देखते ही बनती । सम्भवत मेरे सौन्दर्य का इस ससार मे कोई भी सानी नही । जब मैं राज्य सभा-मडप में प्रविष्ट होऊ गा—एक दिव्य ज्योति-सी चमक जायेगी, दर्शक अपनी सुध-बुध खो विमुग्ध-भाव से मेरी ओर एकटक देखते ही रह जायेंगे । निश्चय ही मेरे समूचे सुन्दर, सुकोमल एव सुदर्शनीय तन की आभा अद्वितीय ही होगी .. .'

अचानक एक अगुली मे से हीरे की अगूठी निकलकर नीचे गिर पड़ी । उनकी विचारशृ खला टूट गई और सीधी उनकी दृष्टि उस अगुली पर पडी । अगूठी गिर जाने से अलकार-शून्य वह अगुली एकदम शोभाहीन-सी प्रतीत होने लगी ।

विचार-धारा की दिशा ने तुरन्त ही पलटा खाया, वह विपरीत दिशा में वह चली—

'अरे, अगूठी के गिर जाने से यह अगुली कितनी विरूप बन गई है ? अगूठी क्या निकल गई है कि जैसे इसकी सुन्दरता ही हो गई है । जो अगुली अगूठी के सयोग से एक क्षण पूर्व ही ... और मनोहर दिखाई दे रही थी, वही इस समय अगूठी के अभाव में कितनी असुन्दर हो गई है ? .. तो क्या मेरा शरीर स्वय सुन्दर नहीं ? क्या वस्त्रा-भूषण का सयोग ही उसे सुन्दर बना रहा ?........

विचारमग्न अवस्था मे उन्होने हीरक हार उतार दिया, रत्नजटित मुकुट को अलग कर दिया और एक-एक अलंकार को हटाकर दूर रखते गये और तब अलंकार-हीन अपने शरीर तथा उसके अंग-उपांगो को दर्पण मे निरखते गये ।

यह क्या ? अब वह सौन्दर्य कहा चला गया ? अब तक दिखाई दे रही सुन्दरता तो आंखो का धोखा मात्र थी । यदि शरीर वस्त्राभूषण के संयोग से ही सुन्दर दिखाई देता है तो स्वयं शरीर मे सुन्दरता कहा है ? शरीर स्वयं सुन्दर नही तो वस्त्राभूषण ही उसकी सुन्दरता को क्या बना देंगे ? वस्त्राभूषणो की सुन्दरता भी नश्वर है और इस देह की सुन्दरता भी, क्योंकि स्वयं देह नश्वर है, यह सुन्दरता ही कैसी ? सुन्दरता तो वह है जो कभी मिटे नही, हमेशा टिकी रहे ।

भरत महाराज गहरे और गहरे सोचते चले जा रहे थे—

'मनुष्य के भ्रम का कोई पार नहीं है कि वह अपनी दैहिक सुन्दरता को ही चिरस्थायी मान लेता है और उसी की रक्षा व सज्जा में सुख का आभास पाने लगता है। उबटन, मर्दन, स्नान, मज्जन, शृंगार आदि से देह को सुन्दर-से-सुन्दर दिखलाने की चेष्टा करता है। किन्तु वह भूल जाता है कि यह सुन्दरता तो नाशवान है और इसे भी वह याद नहीं रखता कि इसके मूल में जो चैतन्य है, उसकी सुन्दरता को निखारने का यत्न किया जाये, क्योंकि वही अन्तरतम की सुन्दरता अनश्वर होती है. ..'

'मेरा मन भी बाह्य सुख और बाह्य सौन्दर्य में भटक रहा था, परन्तु इस समय जो मैं गहरे उतर कर अपने भीतर झांक रहा हूं तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरी दृष्टि उस अपूर्व आत्मिक सौन्दर्य को खोज लेगी। अंगूठी के गिर जाने के बाद अलंकार-शून्य इस अंगुली ने मुझे जिस सत्य का दर्शन कराया है, वह मुझे चिरन्तन सत्य तक अवश्य पहुंचायेगा।....'

'अन्धकार में ही प्रकाश का श्रेष्ठ बोध होता है किन्तु पहले अन्धकार को भी समझना परम आवश्यक है, क्योंकि तभी से प्रकाश का महत्त्व समझ में आयेगा। शरीर की वास्तविक स्थिति से परिचित होने का अर्थ ही आत्मिक-स्वरूप की ओर गति करना है। आज मैंने अन्धकार को समझा है तो अब मैं प्रकाश की ओर अवश्य अग्रसर बनूंगा.... ..'

'इस अंगूठी ने मुझे जागृत बनाया है, आत्मपरिचय के लिए उद्यत किया है। अब मुझे शरीर की नश्वर सुन्दरता में आत्मा का विमल सौन्दर्य एक स्फटिकमणि की भांति स्पष्ट दीखने लगा है। मैं इस समय जड़ता से पृथक् चैतन्य की गहन अनुभूति कर

रहा है। मैं अवश्य ही शरीर के ममत्व को त्यागकर अन्ततम के अगाध सौन्दर्य को पहिचानूंगा........'

'आज का दिन मेरे लिये सबसे ऊंचा दिन है। मुझे अपना असली स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट दिखाई देने लगा है। मेरी चेतना—मेरी आत्मा, यह क्या? हलकी महसूस होती हुई ऊर्ध्वगामी हो रही है। अहा, मुझे अवर्णनीय दिव्य आनन्द की अनुभूति हो रही है.....'

अनित्यभावना के उत्कृष्ट चिन्तन की श्रेणी में भरत महाराज वास्तव में ऊर्ध्व और ऊर्ध्व उठते गये। उनका शरीर शीशमहल के शृंगार-दर्पण के सम्मुख ही यथावत् खड़ा था किन्तु उनकी चेतना अमित ऊंचाइयों को पार करती हुई चली जा रही थी।

× × ×

स्वयं उधर जाकर ज्ञात करता हूं, आप निश्चिन्त रहें ।'

अभी प्रधान अमात्य ने शीशमहल की ओर जाने के लिये पाँव बढ़ाया ही था कि आकाश में देव-दुन्दुभि का स्वर गूंज उठा, शीशमहल की ओर से जय-जय का नाद सुनाई दिया तथा चारों ओर पुष्प-वर्षा होने लगी । सभी आश्चर्य में डूब गये कि इस दैविक घटना का क्या अर्थ है ? प्रधान अमात्य भी विस्मित होते हुए शीशमहल की ओर तेजी से पग बढ़ाते चल पड़े ।

× × ×

'सभाजनों, देवताओं द्वारा यह सत्कार अपने भरत महाराज का ही हो रहा है । अनित्यभावना की उत्कृष्ट श्रेणी में पहुंचकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है । यह दुन्दुभि, यह जयनाद और यह पुष्प-वर्षा केवली भरत का कैवल्य-महोत्सव है । अब भरत छः खंड के महाराज से सारे जगत् के महाप्रभु हो गये हैं'—प्रधान अमात्य ने शीघ्रता से लौट कर सभा को सूचित किया ।

सभी विस्मय की अतिरेक से एक-दूसरे की आकृति निहारने लगे । शीशमहल में केवलज्ञान की उपलब्धि यह स्वयं में एक आश्चर्य है । शीशमहल तो वह स्थान है, जहां इस शरीर को सजाया और संवारा जाता है, वहां आत्मा का सर्वोच्च शृंगार भरत महाराज को कैसे प्राप्त हो गया ? संयम, तप या किसी व्रत की ऊपरी आराधना नहीं करते हुए भी उनकी आन्तरिक आराधना इतनी उच्च कोटि की बन गई कि वे भावात्मक सर्वोत्तम साधु ही नहीं, एकदम केवली ही बन गये—सभी के हृदय हर्ष और श्रद्धा से परिपूरित हो गये थे ।

अकस्मात् भरत महाराज ने सभा मंडप में प्रवेश किया,

किन्तु सिंहासन के पास नहीं गये। अब भला सिंहासन की ओर देखते भी क्यों? सिंहासन के योग्य कोई साज-सज्जा अब उनके शरीर पर नहीं थी। मुकुट के स्थान पर केशलुंचित नग्न सिर था और पदत्राण नहीं, पैर भी नग्न थे। वह अब भरत चक्रवर्ती नहीं, साधु भरत थे, केवली भरत थे। यद्यपि वे मनोरम वस्त्राभूषण का त्याग चुके थे किन्तु उनके मुखमण्डल पर एक अलौकिक तेज उद्दीप्त हो रहा था जो बाहर से नहीं, उनके अन्तस् से फूट रहा था।

सभा में जयनाद के पश्चात् अतुल शान्ति छा गई। सब खड़े हुए तो खड़े ही रहे, क्योंकि भरत महाराज स्वयं भी खड़े ही थे। उन्होंने सभाजनों को उद्बोधित करते हुए धीमी किन्तु गंभीर भाषा में कहा—

स्वर्ण-मुद्रा

'देखो—एक बात मुझे ध्यान में आई'—सरस्वती की आंखों में एक चमक दिखाई दी।

'वह क्या ?' कपिल उत्सुक हुआ।

'शायद अपने नगर के राजा ने एक नई परम्परा शुरू की है न ?'

'मुझे नहीं मालूम—'

'ऐसा है कि प्रातःकाल जो ब्राह्मण सबसे पहले राजा को आशीर्वाद देता है, उसे राजा एक स्वर्ण-मुद्रा दान में देता है।'

'तब तो यह आशाभरी बात है !'

'है तो सही—'

'फिर क्यों नहीं मैं जल्दी उठकर कल सुबह सबसे पहले राजा को आशीर्वाद देने के लिए पहुंच जाऊं और स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त कर लूं ?'

अन्न का एक भी दाना जिस घर में नहीं हो, स्वर्ण-मुद्रा की कल्पना भी बड़ी सुखद होती है। सोचते-सोचते दीनता की

पीड़ा और स्वर्ण-मुद्रा-प्राप्ति की सम्भावना दोनों ने कपिल और दासी दोनों को बलात नींद की गोदी में पटक दिया ।

× × ×

एक नींद आई न आई—प्रातःकाल होता जान कपिल पुरोहित उठ खड़ा हुआ । उसे आशंका हो रही थी कि कहीं तनिक भी विलम्ब हो गया तो स्वर्ण-मुद्रा कोई अन्य ब्राह्मण ले जायगा । राजमहल जल्दी पहुँच जाने के लिये वह अपने घर से निकल पड़ा ।

मध्य रात्रि के निविड़ अन्धकार में वह चला जा रहा था । वर्तमान की पीड़ाओं से उसका मुक्त मन सुखद कल्पनाओं के अपार सागर में गोते लगा रहा था कि प्राप्त स्वर्ण-मुद्रा से वह किस प्रकार अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करने का यत्न करेगा । उसका शरीर भी इसी स्फूर्ति से काम कर रहा था, क्योंकि कल्पित की सम्भव आशाओं ने उसमें एक नया बल भर दिया था ।

एक स्वर्ण-मुद्रा—छोटा-सा पीला गोल टुकड़ा, किन्तु वह भी कितना मूल्यवान है इसके लिये और विशेष कर है उसके जैसे गरीब इन्सान के लिये । वह कल्पना के संसार में मगन बना मन-ही-मन प्रसन्न होता हुआ आगे बढ़ रहा था ।

करने का इरादा है तुम्हारा ?'—एक कड़कड़ाती आवाज ने कपिल से पूछा किन्तु भय के मारे कपिल के मुह से एक शब्द भी नहीं फूटा।

'क्यों रे धूर्त, बोल भी नहीं रहा है ?'

आखिर कपिल ने गिड़गिड़ाते हुए सफाई दी—

'मैं न तो धूर्त हू और न मेरा अपराध करने का ही कोई इरादा है। मैं तो गरीब ब्राह्मण हू और एक स्वर्ण-मुद्रा की आशा में राजमहलो में राजा को आशीर्वाद देने जा रहा हू।'

'बड़ा सीधा बन रहा है और झूठ ऊपर से बोल रहा है कि कोई अपराध नही करने जा रहा है ? आशीर्वाद देने का समय तो प्रातःकाल है, मध्यरात्रि नहीं।'

कपिल को अब ध्यान में आया कि स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त करने की तत्परता से वह बड़े सवेरे की बजाय आधी रात को ही चल कर आ गया है। अब तो वह प्रहरी की धमकी से और ज्यादा डर गया।

'आप विश्वास करें या न करें, मैं झूठ नही बोल रहा हू। दीनता की पीड़ा मे मैं इतना उतावला हो गया कि मुझे गुरा का भान नहीं, मैं आधी रात को ही घर से स्वर्ण-मुद्रा के लिये चल पड़ा।'

प्रहरी ने कठोरता से कहा—'तेरा कथन विश्वास के योग्य नहीं—मैं तुझे जाने नहीं दे सकता। न जाने तू कोई कपटी पुरुष हो और कोई अपराध कर बैठे तो मैं दोषी बन जाऊ।

उसने अपने साथी से कहा—'इसे बन्दी बना लो और कारागृह में बन्द कर दो। प्रातःकाल राजा के सामने प्रस्तुत कर देगे इसे—'

कपिल ने बहुत कुछ कहा-सुनी की किन्तु प्रहरी ने एक न सुनी। वह बन्दी बना लिया गया। कहाँ तो स्वर्ण-मुद्रा की आशा और उससे प्रेयसी को सुखी बनाने की कल्पना और कहाँ उसके बदले में कारागृह की शृंखलाएं? पुरुष सोचता क्या है और होता क्या है?

× × ×

'महाराज, रात को पहरा देते हुए मैंने इस [illegible] पुरुष को पकड़ा है। यह पापी रात को किसी गंभीर अपराध की ताक में घूम रहा था और जब पकड़ा गया तो झूठ-मूठ के बहाने बनाने लगा—' प्रहरी ने प्रातःकाल कपिल पुरोहित को राजा के सामने प्रस्तुत किया।

'अवश्य, निःसंकोच कहो—'

तब कपिल (ब्राह्मण) ने अपनी दरिद्रता की करुणापूर्ण वास्तविक गाथा कह सुनाई और कहा—

'महाराज, मैंने सोचा कि यदि मैं आपको प्रातःकाल सबसे पहले आशीर्वाद देकर एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त कर सकूं तो कुछ शान्ति की श्वास ले सकूं अन्यथा कोई त्राण नहीं है। आशा की इस ललक में मुझे समय का ध्यान नहीं आया और मैं आधी रात को ही घर से निकल पड़ा। सच बात तो यह है कि आधी रात के समय का ध्यान ही मुझे इन प्रहरी जी के कहने से आया। इसके सिवाय मेरा अन्य कोई उद्देश्य नहीं था।'

कपिल की करुण कथा सुनकर न केवल राजा की वरिक उपस्थित सभी लोगों की आँखें भर आईं। उस कथन से निस्सन्देह रूप से स्पष्ट हो गया कि वह किसी भी प्रकार कोई अपराधी नहीं है। राजा ने तत्काल उसे मुक्त करने का आदेश दिया। मुक्त करने के बाद राजा ने कपिल से कहा—

'कपिल, तुम्हारी दीनता ने मेरे मन को हिला दिया है। एक स्वर्ण-मुद्रा के बदले मैं तुम्हें वचन देता हूं कि तुम अपनी इच्छा से कुछ भी मांग लो और मैं तुम्हारी उस इच्छा को पूरी करूंगा। सकोच छोड़कर जो चाहो, मांग लो—'राजा का आग्रह था।

कपिल (ब्राह्मण) एकदम सन्नाटे में आ गया। उसे तो मुक्त होना भी दुष्कर लग रहा था कि अचानक यह इतना बड़ा प्रस्ताव आ गया है। उसका मस्तिष्क तुरन्त कार्यशील नहीं हो सका कि वह राजा से क्या मांगे?

'महाराज, क्या इस विषय में विचार करने के लिए कुछ

[illegible] आप मुझे प्रदान कर सकेंगे ?' कपिल ने विनती की।

'अवश्य, अवश्य शान्ति से विचार कर लो—'राजा ने कहा और अपने सेवक को आज्ञा दी कि वह कपिल को उनके समीप-स्थ उद्यान में पहुंचा दे जहां वह अपनी मांग के बारे में शान्ति-पूर्वक सोच सके और जब वह इस बारे में सोच कर निर्णय कर ले तब उसे उनके पास ले आये।

सेवक आज्ञानुसार कपिल ब्राह्मण को स्वयं राजा के [illegible] करने के उद्यान में ले गया। उसे एक अशोक वृक्ष की शीतल छाया में बिठाकर स्वयं आदेश की प्रतीक्षा में कुछ दूरी पर ठहर गया।

× × ×

'किन्तु जब एक हजार स्वर्ण मुद्राओं का व्यय हो जायेगा तब तो फिर दीनता इसी तरह आ घेरेगी, यह पीड़ा और यह दुख फिर छा जायेगा.......

'क्यों नहीं फिर राजा का सारा राज्य ही मांग लूं, फिर तो यह दीनता और पीड़ा कभी भी मुझे सता नहीं सकेगी। सदा-सदा के लिये सुखी हो जाऊंगा मैं और निश्चिन्त हो जायेगा मेरा परिवार. ....'

कपिल एक ही धारा में बहा जा रहा था। अचानक उसके ज्ञान तंतुओं को एक झटका-सा लगा और उसकी विचारधारा ने दिशा बदल दी।

उसने सोचना शुरू किया—

'अरे, मैं यह क्या इच्छा कर रहा हूं. मैंने तो दुष्टता और नीचता की सीमाएं तोड़ दी हैं .जो राजा दिल खोलकर उदारता-पूर्वक मेरी इच्छा पूरी करने के लिये तैयार हो गया, मैंने उसका ही भयकर अनिष्ट करने का विचार कर लिया.. लज्जा आनी चाहिये मुझे !.... ..'

'धिक्कार है मुझे जो मैं राजा के राज्य का ही अपहरण करने की इच्छा कर बैठा ! खूब सोचा मैंने भी—जो भिक्षुक है वह राजा बन जाये और वह भिक्षुक स्वयं राजा को ही भिक्षुक बना दे, क्योंकि उसने भिक्षुक को उदारता दिखाई है. ....'

'संसार में मनुष्य कितना स्वार्थी है कि वह अपने स्वार्थ के आगे दूसरों के हित को एकदम भूल जाता है। स्वार्थ की आग में वह अपनी सारी गुण-शीलता, सारी सज्जनता को भी स्वाहा कर देता है और तो और अपनी आत्मा को भी उसमें दग्ध-हीन बना डालता है......'

'आज मैं भी स्वार्थ के वशीभूत होकर अपनी आत्मा को बिसरो दिल बैठा । मैं पथभ्रष्ट हो गया, किन्तु अब और नहीं गिरूँगा..... .'

'जीवन उत्थान के लिये है और मैं अपनी श्रेष्ठ भावनाओं के बल पर इस जीवन को अवश्य और तेजी से उत्थान-मार्ग की ओर ले चलूँगा.. ..'

कपिल के हृदय में पहले विचारों का द्वन्द्व हुआ, किन्तु विजय सद्विचारों की ही हुई । वे अशोक वृक्ष के नीचे इसी तरह बैठे-बैठे ही भावना के योग से निरन्तर ऊपर और ऊपर उठते ही चले गये । अपनी आत्मा के प्रति धिक्कार ने उनके मैल को कुछ ही क्षणों में धो डाला । ज्योंही समग्र निर्मलता की स्थिति उनमें जाग्रत हुई त्योंही उन्हें वही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई ।

कपिल ब्राह्मण, कपिल केवली बन गये ।

× × ×

राजा चिन्तातुर हो बैठा, उत्सुकता से उसने पूछा—

'बताता क्यों नहीं कि उसे क्या हो गया है? क्या वह अचेत तो नहीं हो गया?'

'नहीं महाराज, नहीं। वह अपने विचारों में खोया-खोया बैठा ही था और मैं उसे पुनः अपने साथ आपके समक्ष लाने की प्रतीक्षा कर रहा था कि अचानक आकाश से स्वर्ण-पुष्पों की वर्षा होने लगी, देवताओं के झुंड आकर कपिल के चरणों में झुकने लगे और एक दिव्य प्रकाश वहां चारों ओर फैल गया है।'

यह कहकर उस सेवक ने प्रमाणस्वरूप एक स्वर्ण-पुष्प राजा को भेंट भी कर दिया जो वह अपने साथ लेता आया था।

राजा ने गंभीरता से सोचा और वह समझ गया। जो भावना के क्षेत्र में उच्चतम विकास करके कपिल देवेन्द्र का भी पूज्य बन गया है, उसकी पूजा करने में अब नरेन्द्र को कैसा संकोच? उसे तुरन्त उनकी सेवा में जाना ही चाहिये।

राजा तुरन्त अपने सामन्तों, सेवकों के साथ अपने उद्यान की ओर चल पड़ा।

× × ×

देवेन्द्र और नरेन्द्र, देव और नर-नारी कपिल केवली की [illegible] में उपस्थित थे और कपिल केवली धर्मोपदेश दे रहे थे—

'मनुष्य की प्रगति का मूल उसकी अपनी ही भावना में रहा हुआ है। स्थूल आचरण से जो दूरी वह युगों तक भी पूरी नहीं कर पाता, भावना की उत्कृष्ट श्रेणियों में वह उसे कुछ ही पलों में पूरी करके सर्वोच्च स्थान तक पहुंच जाता है...'

सभी उनके दैदीप्यमान तेज से प्रभावित हो [illegible] बैठे थे।

सम्राट् और साम्राज्ञी के पास ही सुशोभित होते हैं अन्य के पास नहीं, कुणिक ईर्ष्या से जल उठे और उन साधनों को अपने अधिकार में ले लेने की अनधिकार भावना को वे दबा नहीं सके ।

'देखो, हलकुमार, आज मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूं—' ऊपर शान्त रहकर कुणिक ने समझाने के ढंग से कहना शुरू किया

'वह क्या—भाई साहब ?'

'तुम्हारे हार और हाथी तो सचमुच ही विलक्षण हैं ।'

'जी हां, ये तो हैं, किन्तु आप कहना क्या चाहते हैं ?'

'हलकुमार, मैं यह कहना चाहता हूं कि इनके तुम्हारे पास रहने से इनकी विलक्षणता का महत्त्व नहीं बढ़ता है ।'

'इससे आपका मतलब—भाई साहब ?' मन-ही-मन चौंक कर हलकुमार ने पूछा ।

'यही कि इन्हें तुम्हें सहर्ष राज्य को सौंप देना चाहिए ताकि ये सम्राट् के मनोरंजन के साधन बन सकें और राज्य में शोभा पावें । वही इनका उपयुक्त स्थान हो सकता है ।'

हलकुमार करीब-करीब चीख उठा—'ऐसा कैसे हो सकता है, भाई साहब, और क्यों होना चाहिए ? पिताजी से आपने तो पूरा राज्य पाया है । उन्होंने तो हार और हाथी मुझे स्नेह से दिये हैं । उनके स्नेह के प्रतीक को भी आप मुझसे छीन लेना चाहते हैं ! मैं साफ-साफ अर्ज कर दूं कि इन पर आपका कोई अधिकार नहीं, राज्य का कोई स्वत्व नहीं ।'

कुणिक के चेहरे पर कुटिल हंसी फैल गई । आगे आगे उसने व्यंग्यपूर्वक हलकुमार को कहा—

'अधिकार और अनधिकार की बात मैं नहीं समझता, हलकुमार, मैं सम्राट् हूं, मेरी इच्छा ही अधिकार होती है। जो मैं चाहूंगा, वह होकर रहेगा—इसका ध्यान कभी न भूलना।'

'यह नहीं हो सकेगा—यह आपका अन्याय है। हार और हाथी मेरे हैं और मेरे ही रहेंगे।'

हलकुमार रोष से कहता जा रहा था किन्तु ऐसा लग रहा था जैसे कूणिक ने उसे सुना ही नहीं।

× × ×

कुमार को गहरी चिन्ता में डाल दिया । इस 'लेकिन' में आ गया सम्राट् कुणिक का चेहरा, उसका सैन्यबल और उसका अन्याय करने का हठ । किन्तु यह 'लेकिन' फिर भी हलकुमार को हताश नहीं बना सका ।

उसने अपने मन को दृढ़ बनाया और निश्चय किया कि अन्याय की सारी शक्तियों के विरुद्ध साहस और अडिग साहस पहली आवश्यकता होती है और जब ऐसा साहस होता है तो अन्य साधन स्वाभाविक रूप से आकर जुट जाते हैं ।

तभी हलकुमार को याद आया कि उसके नाना चेटक महाराज अठारह गणराज्यों के संयुक्त संघ के प्रधान हैं, जिनसे उसे इस अन्याय के विरुद्ध ठोस सहायता प्राप्त हो सकती है । उसने हार पहिना और हाथी पर सवारी की कि तनिक-सी बेला में वह अपने नानाजी के समक्ष पहुंच गया ।

चेटक ने हलकुमार से सारा वृत्त सुना तो उन्होंने निष्कर्ष यह निकाला कि इसका व्यक्तिगत महत्त्व कम और सार्वजनिक महत्त्व अधिक है । एक साम्राज्यवादी का अन्याय यदि प्रारम्भ में ही असफल नहीं बना दिया जाता है तो वह अन्याय पनपकर छा जायेगा, जिससे स्वयं गणराज्यों की स्थिति संकट में पड़ जायेगी ।

उन्होंने इस गम्भीर विषय पर अन्तिम निर्णय लेने की दृष्टि से अठारह गणराज्यों के संघ की गण-परिषद् की विशेष बैठक आहूत की ।

× × ×

गण-परिषद् की विशेष बैठक में [illegible]

राज्यों के अल्पतम साधनों से जा भिड़ना कैसा रहेगा ? एक ओर अस्तित्व का भी खतरा था, परन्तु दूसरी ओर न्याय की रक्षा हेतु न जूझना उससे अधिक लज्जाजनक भी था । सदस्यों ने अपने भिन्न विचारों को खुलकर प्रकट किया । इसके बाद सदस्यों की पारस्परिक मन्त्रणाएं भी हुईं ।

गण-सचेतक ने तब परिषद् की सम्मति को स्पष्ट करते हुए बताना शुरू किया कि अन्याय को सहकर उसे प्रोत्साहित करने की अपेक्षा गणराज्य न्याय की रक्षा में अपने आपको मिटा देने में अधिक गौरव का अनुभव करेंगे ।

तभी प्रहरी ने आकर निवेदन किया—

'गणपति महोदय, सम्राट् कुणिक का राजदूत आया है और इसी समय आपसे भेंट करना चाहता है ।'

'उसे भीतर ले आओ—' गणपति ने आज्ञा दी । राजदूत ने परिषद् के सामने आकर सम्राट् कुणिक का एक पत्र प्रस्तुत किया, जिसे गण-सचेतक ने लेकर परिषद् को सुनाया । पत्र में आतंकपूर्ण भाषा में लिखा था कि हल्लकुमार उसके राज्य का अपराधी है और उसके हार, हाथी राज्य के अधिकार की वस्तु हैं, अतः गणराज्य अगर अपनी सुरक्षा चाहते हैं तो हार, हाथी सहित हल्लकुमार को राजदूत को सौंप दें, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जायें जो उनके अस्तित्व तक को मिटा देगा ।

पत्र सुनते ही सारे सदस्यों के चेहरों पर आक्रोश की तीखी रेखाएं खिंच गईं ।

'सम्राट् कुणिक ने पत्र का उत्तर तुरंत ही आज मंगवाया है—' राजदूत ने कहा ।

युद्ध में अद्भुत शौर्य दिखाते और सायंकाल हाथी के हौदे पर ही प्रतिक्रमण करके सबसे शुद्ध हृदय से क्षमायाचना करते ।

कई दिनों तक युद्ध हुआ । खून की नदी बह गयी, परन्तु गणराज्यों के न्याय ने साम्राज्यवादी अन्याय के सामने अपना गौरव-पूर्ण मस्तक उन्नत ही बनाये रखा ।

किन्तु वर्तमान विचारणीय स्थिति यह है कि गणराज्य में रहते हुए भी हम आज न्याय के लिये कैसा व्यवहार करते हैं ?

एक रेशमी वस्त्र मे सावधानीपूर्वक बाधकर अपने घर की पेटी मे उन्हे रख दिया ताकि जब भी श्वसुर जी उन दानो को माग करेंगे तो वह सच्चाई से वे ही दाने उन्हे लौटा सकेगी।

× × ×

चौथी और सबसे छोटी पुत्रवधु ने चावल के पाच दानों को योग्य निर्देश के साथ अपने पीहर भिजवा दिया।

पाच वर्ष बाद जब धन्नासेठ ने अपनी चारो पुत्रवधुओं को फिर अपने पास बुलाया तो सबने यही अनुमान लगाया कि श्वसुर जी अपने चावल के उन्हीं पाच दानो के बारे मे पूछेंगे। इसलिये सभी इस सम्बन्ध मे अपनी-अपनी बुद्धि से तदनुरूप व्यवस्था करके ही उनके पास पहुची।

चारों पुत्रवधुए जब उनके सामने आकर बैठ गई तो सेठ जी ने क्रमानुसार ही सबसे पूछना आरम्भ किया -

'हमारी सबसे बड़ी बेटी ने पाच वर्ष पूर्व दिए गये चावल के पांच दानों का क्या किया है—यह मैं सबसे पहले सुनना चाहूगा।'

कुछ भी नहीं है। मैं इसीलिये उन दानों को नहीं लाई हूं कि मैं उन्हें ला नहीं सकती थी।'

'क्या मतलब है तुम्हारे कहने का—मैं समझा नहीं—' सेठ आश्चर्य में डूब गये।

'मैं उन दानों का बोझ उठाकर ला नहीं सकती थी।'

'तो पांच दानें भी तुम्हारे लिये इतने बोझ वाले हो गये?'

'यही बात है, पिताजी—आप उन पांच दानों को मंगाने के लिये कृपा करके कुछ बैलगाड़ियां मेरे पीहर भिजवा दें ताकि वे दानें लेकर बैलगाड़ियां कल तक यहां वापस आ जायेंगी।'

धन्नासेठ का आश्चर्य फिर भी नहीं मिटा और बाकी तीन बहुएं तो मतिमूढ-सी बनी छोटी बहू के चेहरे को एकटक निहारने लगीं।

'बेटी, बात को जरा समझा कर कहो—'

धन्नासेठ ने जैसे उस बुद्धिमानिनी बहू के आगे अपने आपको बहुत छोटा मानते हुए प्रार्थना-सी की।

कुछ भी नहीं है । मैं इसीलिये उन दानों को नहीं लाई हूँ कि मैं उन्हें ला नहीं सकती थी ।'

'क्या मतलब है तुम्हारे कहने का—मैं समझा नहीं—' सेठ आश्चर्य में डूब गये ।

'मैं उन दानों का बोझ उठाकर ला नहीं सकती थी ।'

'तो पांच दानें भी तुम्हारे लिये इतने बोझ वाले हो गये ?'

'यही बात है, पिताजी—आप उन पांच दानों को मंगाने के लिये कृपा करके कुछ बैलगाड़ियां मेरे पीहर भिजवा दें ताकि वे दानें लेकर बैलगाड़ियां कल तक यहां वापस आ जायेंगी ।'

धन्नासेठ का आश्चर्य फिर भी नहीं मिटा और बाकी तीन बहुएं तो मतिमूढ़-सी सबसे छोटी बहू के चेहरे को एकटक निहारने लगीं ।

'बेटी, बात को जरा समझा कर कहो—'

धन्नासेठ ने जैसे उस बुद्धिशालिनी बहू के सामने अपने आपको बहुत छोटा मानते हुए प्रार्थना-सी की ।

'पिताजी, संसार चन्द्रमा को इसीलिये पूजता है कि वह अपनी कलाओं में बढ़ता रहता है । दूज के चन्द्रमा को ही सभी देखते हैं । जो कुछ मिले, उसे अपने ज्ञान और परिश्रम से अभिवृद्ध किया जाय—यही प्रगतिशील होना है और मानवीय भी ।'

'बिल्कुल मेरे मन की बात कह रही हो तुम ! पांच वर्ष पूर्व दिये गये चावल के पांच दानें मात्र दाने नहीं थे, तुम सबकी परीक्षा के दाने थे । तुमने इस परीक्षा में क्या किया है—सो विस्तार से मुझे बताओ ।' और सेठजी सुनने को उतावले हो गये ।

ही गलत है। निरन्तर अभिवृद्ध होते हुए गृह का आनन्द-प्रवाह निर्झर की तरह सतत् प्रवाहित होता हुआ रह सकता है।'

यह कहकर सेठजी ने अपने पुत्रों से पूछा—

'क्या मेरा कार्य-विभाजन तुम लोगों को न्यायपूर्ण लगा है?'

'आपके चावल के पाँच दानों से कैसी भारी परीक्षा ली और आपने कैसा सुयोग्य न्याय किया—इसे देखकर हम तो आश्चर्य-चकित रह गये हैं, पिताजी! इस घर में आपका न्याय सदा जीवित रहेगा और आपकी पुत्रवधुओं को अपने जीवन को साफल्य पूर्ण बनाने की दिशा में प्रेरित करता रहेगा—आप चिन्ता न करें।'

आठों प्राणियों ने मस्तक झुकाकर अपने माता-पिता को प्रणाम किया।

प्रवेश किया, उस समय अर्जुन माली अपनी पत्नी [illegible] के साथ मालाएं बनाने के लिये विविध पुष्पों का चयन कर रहा था । ये छह पुरुष अर्जुन माली की पुष्पवाटिका के [illegible] हुए उसी के सामने आकर खड़े हो गये ।

'क्यों रे माली, तूने हमसे यह प्रश्न किया है?' –एक उद्दंड पुरुष ने अर्जुन को डांटते हुए जब सहसा ही प्रश्न किया तो वह समझ नहीं सका कि ये कौन लोग हैं? फिर भी माली ने कहा—

'जी, मैंने आपसे ही पूछा है और यह राजा की आज्ञा है कि मुझसे अनुमति लिये बिना कोई भी उद्यान में प्रवेश न करे, वह चाहे कोई भी हो—'

'मूर्ख, न राजा की आज्ञा हमें रोक सकती है और न तेरी अनुमति हमें रोक सकती है । हम स्वतंत्र पुरुष हैं—हम राजगृही की 'ललित मंडली' का क्या तुमने कभी नाम नहीं सुना है?' –उन्होंने पूछा ।

अर्जुन माली ने सीधा-सा उत्तर दिया—'मैं कभी-कभार ही नगर में जाता हूँ—मुझे आपकी इस 'ललित मंडली' का कभी कोई परिचय नहीं हुआ है ।'

'अरे वाह, 'ललित मंडली' का तुम्हें परिचय नहीं । यह वह मंडली है जो मनचाहा करती है, उसे किसी का भय नहीं है । तुम्हें हमें स्थान में आने से रोकने की हिम्मत कैसे हुई?'

इतने में मंडली की [illegible] चुनती हुई बन्धुमती पर जा गिरी । उसके रूप को देखकर उन दुष्ट पुरुषों के हृदय में [illegible] दुष्टता उभर आई । वे आपस में [illegible]

स्वच्छन्दतापूर्वक उनका अंकुश नहीं लगा सकता था । वे निर्भय होकर अत्याचार करते थे और जनता उनसे आतंकित थी ।

उपवनों में सदा अकेला अर्जुन माली लपकता वहाँ पहुँचे और बन्धुमती को बलात् पकड़कर यक्षायतन में ले गये ।

× × ×

'ओ मुद्गरपाणि यक्ष, मैंने बाल्यकाल से तुम्हारी तन-मन से सदा, पूजा और अर्चना की है । एक दिन भी कभी चूक नहीं की । क्या इसका यह फल मिलना चाहिए कि ये छह लम्पट दुष्ट तुम्हारे ही आयतन में मेरी पत्नी के साथ बलात्कार करें, या शीलविध्वंसी कृत्य उपस्थित करें ? [illegible] ?

अर्जुन माली वह लोह-मुद्गर घुमाता हुआ तुरन्त यक्षायतन में पहुंचा एवं अतीव कर्कश व निर्दय अट्टहास के साथ उसने कुकर्मरत छहों पुरुषों का उस मुद्गर से वहीं वध कर दिया और उसके बाद उसने अपनी पत्नी की भी हत्या कर दी।

✕ ✕ ✕

छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या........अर्जुन माली यक्ष-प्रभाव के कारण उन्मत्त बन गया। अब वह उस लोह-मुद्गर को घुमाता और भयंकर निनाद करता हुआ राजगृह नगर के चारों ओर चक्कर काटने लगा।

उसका प्रतिदिन का क्रम बन गया कि वह किसी भी प्रकार नित्य छह पुरुषों और एक स्त्री की हत्या कर डालता। रोज सात हत्याएं उसके प्रतिशोध की उग्र उन्मत्तता में होने लगीं।

सारे नगर में आतंक छा गया। राजा ने नगर के द्वार बन्द करवा दिये और घोषणा करवा दी कि कोई भी नागरिक नगर से बाहर न जाये। जहां तहां अर्जुन माली के भयानक का और उसके द्वारा की जाने वाली निर्मम हत्याओं की चर्चा ही सुनाई देती थी।

ऐसे ही समय में देश-प्रदेश मे विहार करते हुए अपने गण मंडल के साथ नगर के बाहर गुणशील उद्यान मे भगवान महावीर का पधारना हुआ। भगवान महावीर के पवित्र दर्शन एक ओर, किन्तु दूसरी ओर अपने प्राणों का भय—राजगृह नगर के नागरिक असमंजस में पड़े हुए थे कि क्या किया जाये ?

प्राणो का भय उसे ही रहता है जो आत्मा की अनश्वरता

संकट हमें डिगा नहीं सकेगा—उस संकट को ही हमारे सामने से मिट जाना होगा।'

'सुदर्शन, तुम्हारे निर्भय आत्मविश्वास से मुझे अपार हर्ष है, फिर भी मेरी सलाह है कि तुम भगवान् को यहीं से वन्दना कर लो—वे तो सब देखते और जानते हैं।'—पिता ने फिर आग्रह किया।

'क्या आपको अपने पुत्र के आत्म-विश्वास पर विश्वास नहीं है, पिताजी ?'

पिताजी यह भी कैसे कहते ? सुदर्शन पिताजी की अनुमति पाकर महावीर के दर्शनार्थ एकाकी ही चल पड़े।

× × ×

'जीवन निश्चित कतई नहीं, किन्तु मृत्यु परम निश्चित है, [फि]र मृत्यु के भय से जीवन के तत्त्वों को विस्मृत कैसे किया जा सकता है ? मेरा जीवन सार्थक हो जाये, काश, जीवन का यह अमृत मैं स्वयं अर्जुन माली को भी पिला सकूं'—इन्हीं विचारों के साथ सुदर्शन नगर से बाहर गुणशील उद्यान की ओर निर्भय एवं शान्त भाव से चले जा रहे थे।

तभी कुछ दूरी पर अर्जुन माली का रौरव अट्टहास सुनाई दिया। वह उन्हीं की ओर अपना लोह-मुद्गर घुमाता हुआ बढ़ा चला आ रहा था। संकट सामने आया जान अपने आत्मबल को संजोकर सुदर्शन वहीं ध्यान-मग्न खड़े हो गये। अन्तर् का प्रभाव उनकी बाह्य आकृति पर भी इस स्पष्टता से प्रस्फुटित हो रहा था कि उसके सामने खड़ा होकर हिंसक पशु भी नम्र बने। अर्जुन माली तो उस अटल अभय वृत्ति का दर्प सहमा ही, किन्तु

'मैं तो अकिंचन हूं, अर्जुन, तुम्हारा उद्धार तो वीर-प्रभु ही करेंगे और वह तुम्हारा अद्भुत परिवर्तन होगा। मैं वीरप्रभु के दर्शनार्थ ही जा रहा हूं, तुम भी मेरे साथ चल सकते हो।'

सुदर्शन आगे और उनके पीछे जब अर्जुन माली गुणशील उद्यान की ओर चलने लगे तो अपनी-अपनी छतों से देख रहे उत्सुक नागरिकों ने उच्च ध्वनि से जयनाद किया और वे भी महावीर के दर्शन हेतु निकल पड़े। यह जयनाद सुदर्शन का नहीं, ऐसे आत्मबल का था, जिसने एक हत्यारे दिल को पलट दिया था।

× × ×

'हे भगवन्! मेरी आत्मा पापों के भार से दबी जा रही है। मैंने जाने-अनजाने कितने प्राणों का विनाश किया है, कितने प्राणों को अमित कष्ट पहुंचाया है—यह सब कुछ आपकी दृष्टि में है, प्रभु। क्रोध से मैं कितना पागल बना, प्रतिशोध की आग में कितना जला—यह भी आप जानते हैं। जो हो गया उसके लिये प्रायश्चित्त करके मैं अपने जीवन को विशुद्ध बनाना चाहता हूं, अन्तर्यामी, आप मुझे अपनी शरण में लीजिये।'

धर्मदेशना समाप्त होने के पश्चात् जब श्रोता वन्दन करके अपने-अपने स्थानों को लौट चले, तब भी अर्जुन माली वहीं खड़ा रहा और उसने भगवान की सेवा में यह निवेदन किया।

'अपने जीवन में अद्भुत परिवर्तन लाने का तुम्हारा मनोभाव जब प्रबल है तो जैसा तुम्हें सुखकर एवं रुचिकर हो, वैसा शीघ्र ही कर सकते हो, देवानुप्रिय!'

उनके समूचे पाप बह गये। एक हत्यारा महात्मा बन गया था—परिवर्तन की भावभरी प्रक्रिया में धुल कर निखर गया था।

तभी भगवान ने अपने शिष्यों को उद्बोध दिया—अर्जुन मुनि ने कितना शीघ्र अपना उद्धार कर लिया? इसे कहते हैं—अद्भुत परिवर्तन!'

'मेरी आत्मा आज विकृति में फंसती जा रही है तथा मैं कुछ वर्ष और संसार में रहूं याने उसे और गहराई में फंसाता जाऊं व एक दिन ऐसी स्थिति में पहुंच जाऊं कि पतन की उस गहराई से उसे बाहर निकाल पाना ही कठिन हो जाये—ठीक उसी तरह कि दो चार रोज आग बुझाने से रुकने पर वह गृह ही पूरे तौर पर भस्म हो जाये। अत आज के उत्साह को मैं शिथिल बना दूं—ऐसी सलाह आप क्यों देते हैं ?'

अरणिक ने तार्किक रूप से महाराज का मुंह बन्द कर दिया तो उसकी माता ने ममता के स्वर में उससे कहा—

'बेटा, अरणिक, तू नहीं जानता कि मां अपनी पुत्रवधू और अपने पोतों का मुंह देखने की कितनी गहरी उत्कंठा रखती है ? तू अपनी मां की इस उत्कंठा को पूरी नहीं करेगा ? अभी बहुत लम्बा है, समय आने पर दीक्षा भी लेना—हम तुझे ...गे नहीं।'

'क्या माताजी, आप अपने बेटे के आयुष्य की एक दिन की भी सुनिश्चितता मान सकती हैं ? एक पल का भी कहीं ठिकाना है ? मां की दृष्टि का केन्द्र उसका बेटा जब महाभिनिष्क्रमण पर प्रस्थान कर रहा हो तो मां के लिये इससे बढ़कर कौन-सा सुख हो सकता है ? आपको तो मुझे उत्साह देना चाहिये।'

महाराज और महारानी ने देख लिया कि किसी भी उपाय से राजकुमार अरणिक अपने निश्चय से डिगने वाला नहीं है। तब उन्हें विचार आया कि जब उनकी इकलौती सन्तान ही राज्य और धन के सुख को छोड़कर त्याग पथ पर चली जाना चाहती है तो फिर उनके लिये ही संसार में कौनसा आकर्षण बच रहा है। बेटा नित्यप्रति नये-नये कष्टों का वरण करे और मां बाप

भी ऊपर उठती जा रहे थे । जयनाद के साथ महाराज, महारानी और राजकुमार ने दीक्षा-स्थल के लिये प्रस्थान किया । वहां उन्होंने अपने गुरु के सान्निध्य में विधिवत् दीक्षा ग्रहण की ।

दीक्षा के पश्चात् नवदीक्षित महारानी तो अन्य साध्वियों के साथ अलग विहार करने लगीं, किन्तु महाराज और अरणिक मुनि साथ-साथ ही विचरने लगे ।

'मैं जरा भिक्षा लेने जा रहा हू, पिताजी महाराज ।'

'नहीं, अरणिक मुनि, नहीं । मेरे होते हुए तुम्हें कोई कष्ट करने की जरूरत नही है । लाओ, पात्र मुझ दो मैं ले आता हू ।'

पिता मुनि हो गये, फिर भी पुत्र पर से अपना पितृ-मोह दूर नहीं कर सके । साथ मे रहने का बडा कारण यही था कि अपने पुत्र मुनि को कोई कठिन काम न करने दें और उसकी हर तरह से सार-सभाल रखें । अरणिक मुनि को वे न तो गर्मी-सर्दी में बाहर निकलने देते और न उन्हे वस्त्र-पात्रादि का तनिक भी भार उठाने देते । इस तरह अरणिक मुनि कष्टसहिष्णु नहीं बन सके । उनके शरीर की कोमलता कठोरता मे बदल न सकी ।

यकायक एक दिन अरणिक के पिताजी महाराज की तबियत बहुत ज्यादा खराब हो गई । तब अन्तिम अनशन व्रत ग्रहण करने के पूर्व उन्होंने अपने पुत्र मुनि को बुलाकर कहा—

'अरणिक मुनि, मैं अपने शरीर पर से भी मोह छोड़ रहा हू, किन्तु विवश हूं कि तुम पर से मेरा मोह दूर नहीं हो पा रहा है । क्या करूं—मैंने तुम्हें अपने मन और नेत्रों से कभी दूर नहीं रखा ? तुम सयमनिष्ठ रहकर अपने जीवन का परम विकास प्राप्त करो—यही मेरा अन्तिम आशीर्वचन है ।'

और दूसरे दीक्षा के उपरान्त भी अपने पिता की छत्रछाया में रहते हुए कभी कोई कष्ट उन्होंने देखा नहीं, उस पर पहला ही मौका ऐसी भीषण गरमी से सामना करने का मिला, वे व्यथित हो उठे।

वे चले जा रहे थे नगर की ओर—किन्तु वह प्रचण्ड ताप उनके लिये अतीव असह्य हो उठा था। पैर गरमी और फफोलों की दुहरी मार से बुरी तरह जल रहे थे, सिर तप रहा था और सारा शरीर दहक रहा था—फिर भी पर-कटे पक्षी की भांति तड़फते हुए वे चले जा रहे थे।

नगर में प्रवेश करते ही अरणिक मुनि को सामने ही एक विशाल अट्टालिका दिखाई दी। पृथ्वी पर बुरी तरह तड़फती हुई मछली को जैसे जलकुण्ड दिखाई दिया। वे कुछ क्षण विश्राम के लिये उस अट्टालिका की छाया में खड़े रह गये।

अट्टालिका की स्वामिनी वेश्या ऊपर के झरोखे में बैठी हुई खस खस की गीली टाटियों से शीतलता और सुगन्ध का आनन्द ले रही थी। अचानक उसकी नजर नीचे ठहरे मुनि अरणिक पर जा गिरी—उसने देखा, आकर्षक और सुकोमल देहधारी एक सलोना नौजवान घबराया सा साधु के वेश में खड़ा है। जिसको जो देखना चाहिये, वह वही तो देखता है। भोगवती वेश्या साधु में शरीर को देखकर ही मोहित हो सकती थी, साधु के साधुत्व को देखने की दृष्टि तो उसके पास थी ही कहाँ?

वह भव्य आकृति जैसे पहली ही नजर में उस वेश्या के मन में गहरे पैठ गई और उस सौन्दर्य मुग्धा ने पहले ही क्षण में उस पक्षी को फांसने की पूरी योजना सोच ली।

'आप इतने सुन्दर, इतने कोमल और इतनी धूप में कहाँ भटक रहे हैं, भव्य!'

वेश्या चतुर और कुशल थी। मुनि की आतुर-व्याकुल अवस्था का लाभ उठाने का उसने निश्चय कर लिया। उसने यकायक अपनी चिकनी और गोरी बाहे मुनि के गले में डाल दीं और उनकी आंखो मे अपनी मादक आंखें डालते हुए मिठास स्वर मे कहना शुरू किया—

अब इन काष्ठपात्रों को फेंक दीजिये, मेरे प्रिय, क्या मेरा यह बाहुपाश अब आपको फिर से बाहर जाने देगा? आप इस आनन्दधाम को छोडकर अब वापस न लौटिये—'और उसने अपने लुभावने हाव-भावों, तीखे कटाक्षो एवं मादक मनुहारों से मुनि को वहीं रोक लिया। तब रजत थाल सामने रखकर उसने अरणिक को भोजन कराया और त्यागी से पुनः भोगी बना लिया।

× × ×

नारी ने अरणिक के जीवन में कभी प्रवेश नहीं किया था। जब उसने प्रवेश किया तो एकदम इतने गहराई से कि अरणिक सब कुछ भूल गये। वे अपना संयम और आत्मा भान तक भूल गये, अपने पिता के अन्तिम आशीर्वचन को भूल गये और भूल गये अपनी जीवित साध्वी मा की अनुभूति को।

'क्या सोच रहे हैं आप, मेरे प्रिय!'

'कुछ भी तो नहीं प्रिये—मैं तुम्हारा विश्वास कर रहा सोच रहा हूं?'

'कितनी सौभाग्यशालिनी हूं जो आप मेरे ही होकर आये हैं!'—वेश्या जैसे निहाल थी।

'और मेरा सौभाग्य तो तुम्हारे ही घर में जगा गया है, मेरी अंकशायिनी!'

गर्मी के कष्ट से घबरा कर सुना है कि अरणिक मुनि किसी नगर में एक वेश्या के सहगामी बन चुके हैं।'

'क्या कह रही हैं, आप ! मेरा अरणिक ऐसा कभी नहीं कर सकता। आपने झूठ सुना है।'

'साध्वीजी, हमने सुना ही है, देखा नहीं। कौन जाने, झूठ ही हो सकता है !'

किन्तु अरणिक मुनि-धर्म छोड़कर भ्रष्ट हो गया है'—इस कथन मात्र ने ही माताजी महाराज के मस्तिष्क पर ऐसा तीव्र आघात पहुंचाया कि वे अपनी सुध-बुध ही खो बैठीं। माता के हृदय पर ममता की ठेस बहुत घातक होती है।' वे पागल-सी हो गईं। उसी क्षण से—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक—यह तुमने क्या किया? यह तुमने क्या किया?'...... चिल्लाती हुई गली-गली, गांव-गांव में भटकने लगीं।

साध्वियों ने उन्हें समझाया, नागरिकों ने उनके बेटे को ढूंढ निकालने का वादा किया, लेकिन मन की गुत्थी उलझी थी सो उलझी ही रही। वे अपनी साथ की साध्वियों को भी छोड़कर अकेली ही इधर-उधर नगर-वन में चक्कर लगाने लगीं। जहां जातीं वहीं पगली समझ कर नगर के बालक उनके पीछे हो जाते और तालियां पीटते रहते। उनके मुंह से तो इस एक बोल के सिवाय कुछ और फूटता ही नहीं था। एक ही रट थी—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक !'

× × ×

गर्मी के कष्ट से घबरा कर सुना है कि अरणिक मुनि किसी नगर में एक वेश्या के सहगामी बन चुके हैं।'

'क्या कह रही हैं, आप ? मेरा अरणिक ऐसा कभी नहीं कर सकता। आपने झूठ सुना है।'

'साध्वीजी, हमने सुना ही है, देखा नहीं। कौन जाने, झूठ ही हो सकता है !'

'किन्तु अरणिक मुनि-धर्म छोडकर भ्रष्ट हो गया है'—इस कथन मात्र ने ही माताजी महाराज के मस्तिष्क पर ऐसा तीव्र आघात पहुचाया कि वे अपनी सुध-बुध ही खो बैठीं। माता के हृदय पर ममता की ठेस बहुत घातक होती है।' वे पागल-सी हो गईं। उसी क्षण से—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक—यह तुमने क्या किया ? यह तुमने क्या किया ?'....... चिल्लाती हुईं गली-गली, गांव-गांव में भटकने लगीं।

साध्वियो ने उन्हे समझाया, नागरिकों ने उनके बेटे को ढूढ निकालने का वादा किया, लेकिन मन की पखुडी उजाड़ पुरी सी उखडी ही रही। वे अपनी साथ की साध्वियों को भी छोडकर अकेली ही इधर-उधर नगर-वन मे चक्कर लगाने लगीं। जहां जातीं वहां पगली समझ कर नगर के बालक उनके पीछे हो जाते और तालियां पीटते रहते। उनके मुह से तो इस एक बोल के सिवाय कुछ और फूटता ही नहीं था। एक ही रट थी—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक !'

× × ×

फिर ग्रीष्म ऋतु आ गई थी । अट्टालिका के उसी झरोखे में अब एकाकी वेश्या नहीं—वेश्या और अरणिक दोनों चौपड खेलते हुए खस-खस की गीली टाटियों की शीतलता और सुगन्ध का आनन्द ले रहे थे । सूर्य के घोर आतप से तपते हुए आकाश और तपती हुई धरती की ओर एक सरसरी-सी नजर डालते हुए अरणिक बोले । जैसे वे किसी ओर से नहीं, स्वयं से ही कुछ कह रहे हों—

'पूरा एक वर्ष होने आ गया । यही सूर्य तप रहा था, यही धरती जल रही थी, यही आसमान धू-धू कर रहा था... और मैं घबरा गया था । मन की दुर्बलता ने मुझे ऐसी पटक दी कि मैं सब कुछ भूल गया ।.. .....अरे मैं तो राजकुमार था... अट्टालिका से भी बढकर प्रासाद की प्रचुर सुख-सुविधाए प्रस्तुत थीं मेरे सामने....किन्तु उत्साह से उन्हें ठोकर मारकर मैं निकला था....मैं क्या निकला था, मेरे कारण ही तो मेरे माता-पिता भी निकल गये थे पिता चले गये, मां न जाने कहा है और मैं अभागा पतित होकर यहा पडा हुआ हू ..कैसी विडम्बना है ?'

'यह क्या हो गया है, मेरे प्रिय, आपको ? आज आपका मन ठीक नहीं लगता, कुछ विश्राम कर लीजिये । कहीं मेरे से कोई त्रुटि तो नही हो गई है ?' और दौडी-दौडी वेश्या शीतल पेय ले आई और अपने अरणिक को लगनपूर्वक पखा झलने लगी ।

आशका से वेश्या का मन डोल उठा । इसी कडी धूप ने अरणिक का मुझसे मिलन कराया था और यही कडी धूप कही उसके विछोह का कारण न बन जाये । चौपड खेलते-खेलते उन्हें ऐसे विचार क्यो उठ आये ? वह मन-ही-मन जितना ज्यादा घबराती, पखा उतनी ज्यादा तेजी से वह झलने लगती ।

तभी चीखते चिल्लाते ये करुण शब्द चारों ओर घरों के उस सूनेपन मे तीक्ष्णता से गूंज उठे—

बेटा अरणिक, बेटा अरणिक !'

× × ×

अरणिक के कानों पर भी ये शब्द आये—एक बार, दो बार, तीन बार, किन्तु इन शब्दो का प्रवाह तो जैसे लगातार बढ़ रहा था । अरे, ये तो उसकी माता के शब्द हैं । [illegible] कहाँ आ गई इस कड़ी धूप मे ? और ये शब्द इस [illegible] के साथ निकल रहे थे जैसे किसी पगली के मुह से निकल रहे हों । तो क्या मा पागल हो गई है ?

और यह सोचते ही अरणिक भी पागल हो गया । [illegible] एक झटका लगते ही वह पागलों की तरह उठा, [illegible] बाहर निकला और नंगे पैरों गर्म रेत पर उन [illegible] के पीछे भागने लगा ।

जब उस गर्म रेत पर वह दयावान् मा के [illegible] में [illegible] गया था तो उस समय उसे वह गर्म रेत [illegible] की [illegible] शीतल वस्तु लगी । [illegible] की आग जो उसके [illegible] थी, वह गर्म रेत से हजार गुनी ज्यादा गर्म [illegible] थी ।

अरणिक बेटे को [illegible] बार देखा तो मा [illegible] पाया किन्तु उस नेत्र में उसने जो [illegible] अरणिक [illegible] रोष भी पाया । वह बोली—

'बेटा अरणिक, यह तूने क्या किया ? [illegible] से विकार हुए ? त्याग [illegible]

अपने स्वर्गस्थ पिता को तो याद कर लिया होता—स्मृति का एक क्षण इस अपनी अभागिनी मां के लिए भी तो सुरक्षित रखा होता, तो शायद फिसलने से बच जाता और मुझे भी इस मोह-व्यथा से बचा लेता. ....'आखिर मा का हृदय कितना रोष करे ?

अरणिक की आंखों के आगे अन्धकार छा गया, कंठ रुंध गया मगर कुंठा टूट गई थी । मा के चरणो मे अपने मस्तक को रगडते हुए वह इतना ही बोल सका—

'मा, क्षमा कर दो मुझे - मैं इसका कठोर प्रायश्चित करूंगा । जिस गर्मी ने मेरे त्याग को गला दिया, अब उग्र त्याग से मैं उस गर्मी को ही गला दूंगा ।'

× × ×

सूर्य के प्रचंड आतप से तप्त लौह-पिंड के समान जलती हुई पर्वत शिला पर जाकर स्थिर ध्यान करूंगा और कठोर प्राय-श्चित को सफल बनाऊंगा—' इस अटल निश्चय के साथ पुन. दीक्षित मुनि अरणिक गुरु से आज्ञा लेकर पर्वतमालाओं की ओर चल पड़े ।

उस समय सम्पूर्ण ब्रह्मांड को एक प्रज्वलित अग्नि-कुंड की उपमा दी जा सकती थी । कोई प्राणी खुली धूप में नजर नहीं आ रहा था । सभी यथासुलभ छाया मे कहीं-न-कहीं विश्राम कर रहे थे, किन्तु कठोर प्रायश्चित की भावना से जिन अरणिक मुनि ने अपने मन को मथ दिया था, उनके लिये अब कैसी गर्मी ? वे तो उस उष्णता से अतीत हो चुके थे ।

मन की माया कैसी होती है कि जब मन दुर्बल हुआ था

तो वही धूप असह्य हो गई, लेकिन जब वही मन सुदृढ़ बन गया तो वही धूप जैसे अपना अस्तित्व ही खो बैठी। मुनि अरणिक और सकम्प और उग्र व्रत धारण करके पर्वत पर ऊपर और ऊपर चढ़ते ही जा रहे थे। उनके मुख पर तब विकलता या विक्षोभ की एक हलकी रेखा तक नहीं थी।

पर्वत के ऊपर एक तापतप्त शिलाखण्ड पर मुनि अरणिक ने अपना आसन जमाया और सभी के व्यामोहों से सर्वथा मुक्त होकर ध्यानस्थ हो गये। अरणिक उस समय सिवाय अपनी अन्तरात्मा के और कहीं जैसे विद्यमान ही नहीं रहे थे। एकाग्रता में रमण करते हुए वे अन्दर-ही-अन्दर उन ऊंचाइयों को पार करते हुए अपने लक्ष्य की ओर आगे और आगे बढ़े ही जा रहे थे।

जैसे तपाते-तपाते सोना एक स्तर पर पहुंचकर कुन्दन बन जाता है, उसी तरह कठोर प्रायश्चित में अपने आपको तपाते-तपाते मुनि अरणिक भी निर्मल और प्रदीप्त कुन्दन बन गये।

